

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 1 अंक 4

अप्रैल-जून 2004

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

डॉ. लोकेशचन्द्र

निर्मल वर्मा

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आस्था भारती

दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20.00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

आस्था भारती

3/504 ईस्ट एंड अपार्टमेन्ट

मयूर विहार फेस-1 विस्तार

दिल्ली-110096

से आस्था भारती के लिए डॉ. बी.बी. कुमार, सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा द्वारा मुद्रित।

फोन : 011-22712454

अणु डाक : asthab@vsnl.net

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

अनुक्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1. वर्तमान समय में भाषा और साहित्य की स्थिति <i>निर्मल वर्मा</i>	7
2. द्यूत <i>नरेन्द्र कोहली</i>	19
3. बीते वर्षों की कहानी <i>शंकर शरण</i>	31
4. इतिहास के सहयात्री <i>मदनमोहन तरुण</i>	44
5. भक्ति आन्दोलन और शंकरदेव <i>नन्दकिशोर पाण्डेय</i>	68
6. रणजीत सिंह-काल का पंजाबी साहित्य <i>नरेश</i>	79
7. वैचारिक उपनिवेशवाद और हमारी सोच <i>ब्रज बिहारी कुमार</i>	84
8. भौतिकवाद बनाम अध्यात्मवाद: स्थापना और संसिद्धि <i>सरोज कुमार वर्मा</i>	95
9. पूर्वाग्रह-विहीन इतिहास-दृष्टि <i>प्रणव कुमार</i>	105
10. पाठकीय प्रतिक्रिया	120

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

देश का राजनीतिक एवं बौद्धिक परिदृश्य

देश में अभी अभी लोकसभा के चुनाव हुए हैं। आन्ध्र प्रदेश एवं तमिलनाडु के अतिरिक्त कई राज्यों में कांग्रेस कमजोर हुई है। भारतीय जनता पार्टी की स्थिति दोलन की सी रही है। उस पार्टी में भी स्थायित्व का अभाव है; लोक सभा में उसके सदस्यों की संख्या दो एवं 184 के बीच डोलती रही है। राष्ट्रीय स्तर पर राजनीति का विखण्डन खतरनाक है। देशहित में इन दोनों अखिल भारतीय दलों का सशक्तिकरण आवश्यक है। राजनीति में स्थायित्व के लिए लोगों का विश्वास बनाए रखना आवश्यक है। सामाजिक एवं राष्ट्रीय हितों की केन्द्रीयता दलों की विचार-धाराओं एवं कार्यप्रणाली में सतत दिखायी देनी चाहिए। दुख है कि ऐसा हो नहीं रहा है। दलों की विचारधाराएँ धूमिल पड़ी हैं। लोक हित हासिल पर चला गया है। लोगों के उत्साह में कमी आयी है। लोग दलों से कटे हैं। सुविधा की राजनीति, वैचारिक सातत्य का अभाव, राजनीति के उच्चतम स्तर पर अदूरदर्शिता एवं व्यक्तिवादी झुकाव; सभी दलों द्वारा चुनाव की राजनीति में धन एवं बल का गलत प्रयोग एवं अपराधियों को प्रश्रय के दुखद परिणाम दिखने लगे हैं। इससे हम त्रस्त हैं और गणतांत्रिक प्रक्रिया से कटे हैं।

इधर कई कारणों से देश में संभ्रम की स्थिति बनी है। दूरदर्शिता के अभाव एवं तात्कालिक स्वार्थ की पूर्ति के लिए राजनैतिक दल गलत सूचनाएँ देते हैं; लोगों को बरगलाते हैं; सामाजिक विभेद पैदा करते हैं। उन्हें सही जानकारी द्वारा लोगों को शिक्षित करना चाहिए। ऐसा नहीं करने से समाज में बौद्धिक उलझन पैदा होती है; लोग भ्रमित होते हैं। संभ्रम तब भी पैदा होता है जब राजनीतिक दलों का व्यवहार शासक एवं विरोधी दल के रूप में अलग अलग होता है। दुख है कि राजनीतिक व्यवहार की यह कमी लोगों को तो अखरती है, लेकिन राजनीति करनेवालों को नहीं। संभ्रम की स्थिति देश को कमजोर करती है।

भारत की स्वतंत्रता के 56 वर्ष से अधिक समय बीत जाने पर भी हम कई क्षेत्रों में वस्तुनिष्ठ मानक स्थापित करने में असफल रहे हैं। इससे भी अधिक दुख की बात है कि हम उसकी दिशा में न बढ़कर लगातार उल्टी दिशा में बढ़ रहे हैं। इससे उत्पन्न अराजक स्थिति से देश और समाज को लगातार क्षति पहुँच रही है। राजनीति के क्षुद्र स्वार्थों से अंधे होकर हम संवैधानिक संस्थाओं पर बार बार चोट करने से नहीं हिचकते और उन्हें लगातार कमजोर किए जाते हैं। राज्यपाल का पद एक संवैधानिक पद है। उसकी गरिमा बनायी रखी जानी चाहिए। दुर्भाग्य है कि जब भी दिल्ली में सरकार बदलती है तो इस पद को लेकर कोई न कोई विवाद खड़ा कर दिया जाता

है। ऐसा इस बार भी हुआ है। इस देश में संवैधानिक संस्थाओं के साथ छेड़-छाड़ के अन्य उदाहरण भी हैं।

कई कारणों से इस देश में वैचारिक खुलापन में कमी आयी है; बौद्धिक आतंकवाद बढ़ता रहा है। बौद्धिकों का एक वर्ग सही बात कहने से डरता है। दूसरा डरता है। कई बौद्धिक क्षेत्रों में एक तरफ श्मशानकी चुप्पी तो दूसरी तरफ भयंकर शोरगुल की विडंबनापूर्ण स्थिति बनी है। ऐसा ही शोरगुल आजकल विद्यालयों की इतिहास की पुस्तकों को लेकर मच रहा है। शोरगुल में “गलत हुआ है” की आवाज तो आ रही है, लेकिन क्या गलत हुआ है? सुनाई नहीं देता।

कुछ वर्ष पूर्व विखण्डनवाद के प्रणेता देरीदा भारत आये थे। दिल्ली में उनके तीन भाषण हुए। उनके एक प्रशंसक एवं हिन्दी में देरीदा के ‘विखंडन’ एवं उत्तर आधुनिकता पर कलम चलानेवाले एक लेखक ने आत्ममुग्ध होकर लिखा

“अब हम कह सकते हैं: वे बोले। उन्होंने जीता। और वे चले गये।”

देरीदा क्या बोले? क्या जीते? किसे जीते? बात समझ में नहीं आयी। उसी लेखक ने यह स्वीकार किया है कि हिन्दी के एक मठाधीश को देरीदा की बातें समझ में नहीं आयीं। एक दूसरे मठाधीश उनके तीन घंटे बिना पानी के लगातार बोले जाने पर चकित एवं मुग्ध थे। लेखक भी उनकी इस खूबी पर चकित और मुग्ध था। देरीदा का व्यक्ति चकित कर रहा था। विचार समझ से बाहर या हासिये पर था। फिर भी लेखक अपने एक मित्र से कहते हैं, “...भाई। साठ के दशक में आई. ए. रिचार्ड्स आये तो हिन्दी में तथ्य समीक्षाकी शुरुआत हुई थी। अब देरीदा आये हैं तो आने वाले दिनों में “विखंडन” शुरू हो जाना है।” हाँ भाई बात तो सही है। जमीन से कटे लोगों की हवाई बातें भी तो बातें ही होती हैं। इसी संदर्भ में मुझे अज्ञेय की एक कविता याद आती है

पर हमारे शब्द
जनता के नहीं थे
क्योंकि जो उन्मेष हममें हुआ
जनता का नहीं था
हमारा दर्द
जनता का नहीं था
संवेदना ने ही विलग कर दी
हमारी अनुभूति हमसे
यह लीक हमको मिली थी
अंधी गली थी। -- (अरी ओ करुणा प्रभामय)

-- ब्रज बिहारी कुमार

वर्तमान समय में भाषा और साहित्य की स्थिति†

निर्मल वर्मा*

यह एक सांस्कृतिक विडंबना ही मानी जाएगी कि स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व एक सामान्य हिंदी भाषी व्यक्ति का अपने साहित्य और उसके लेखक से भावनात्मक संबंध आज से कहीं अधिक गहरा और अर्थपूर्ण था। हिंदी भाषा केवल विचारों का माध्यम नहीं, स्वाधीन चेतना का प्रतीक थी और इस अर्थ में हमारे उन समस्त अनुभवों का प्रतिनिधित्व करती थी, जिसे हम व्यापक रूप से भारतीय संस्कृति का नाम देते हैं। यदि हिंदी की यह भूमिका पिछले वर्षों में धूमिल पड़ गयी है, तो इसके कारणों का विश्लेषण करना हमारा प्राथमिक कर्तव्य बन जाता है।

प्रायः कहा जाता है, कि भारत के अनेक भाषाओं में विभाजित होने से उसके साहित्य का स्वर और स्वरूप उस रूप में अखंडित समग्रता प्राप्त नहीं कर पाता, जितना हम यूरोपीय देशों के एक-भाषी 'मोनोलिथिक' साहित्यों में देख पाते हैं। मैं इस आरोप को नितांत सारहीन पाता हूँ। यह सही है कि भारतीय भाषाओं की विकास-यात्रा एक-दूसरे से काफी भिन्न रही है। मैं आज उनके उतार-चढ़ाव के विभिन्न कारणों में नहीं जाना चाहूँगा। यह स्पष्ट है कि हर भाषा अनेक दिशाओं से प्रभाव ग्रहण करती हुई अपनी पहचान, अपना विशिष्ट चरित्र गढ़ती है, किंतु कुछ महत्त्वपूर्ण तत्त्व ऐसे भी हैं, जो भारतीय भाषाओं को, उनके वैशिष्ट्य के बावजूद, एक बड़ी सांस्कृतिक अस्मिता में एकसूत्रित भी करते हैं। यह सही है कि कालान्तर से हर भारतीय भाषा को अधिक लचीला, बहुमुखी और समृद्ध बनाने में स्थानीय बोलियों -- dialects, उर्दू, फारसी, अंग्रेजी भाषाओं की भी महत्त्वपूर्ण देन रही। किंतु जहाँ तक भारतीय भाषाओं के मूल सांस्कृतिक संस्कारों का प्रश्न है, उन्हें सुगठित करने में संस्कृत का योगदान

*निर्मल वर्मा, प्रख्यात साहित्यकार, चिन्तक, ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्तकर्ता एवं महात्मा गांधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति हैं। वे 'चिन्तन-सृजन' की सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति के सदस्य हैं।

†हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग के पूणे, महाराष्ट्र में 16 मार्च 2004 को 56वाँ अधिवेशन के सभापति के पद से दिए गये भाषण का अंश।

मेरी दृष्टि से उतना ही केंद्रीय महत्त्व रखता है, जितना एक समय में लातिन और ग्रीक भाषाओं ने यूरोपीय देशों के जातीय संस्कारों को निर्मित करने में सक्रिय भूमिका अदा की थी। अंतर यदि था, तो इतना ही कि जब मध्यकाल के समाप्त होने से पूर्व यूरोप में लातिन-ग्रीक भाषाओं के स्रोत सूखने लगे थे, वहाँ चिंतन, तत्त्वज्ञान और दर्शन के क्षेत्रों में संस्कृत जीवंत माध्यम के रूप में भारतीय भाषाओं के साहित्य को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से पोषित करती रही। विभिन्न भाषाओं के भीतर एक ही सांस्कृतिक धारा प्रवहमान होती रही। यह वह मुख्य कारण है कि भारत में सैकड़ों भाषाएँ और बोलियाँ होते हुए भी उनके परस्पर संबंध और सौहार्द का स्नेह बंधन कभी ढीला और कमजोर नहीं पड़ा। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बहुत संवेदनशील शब्दों में 'अनेक में एक' की इस अद्भुत भाषाई परंपरा को रेखांकित करते हुए कहा है, 'हमारे देश ने हजारों वर्ष पहले भाषा की समस्या हल कर दी थी।' हिमालय से लेकर सेतुबंध तक सारे भारतवर्ष में धर्म, दर्शन, विज्ञान, चिकित्सा आदि विषयों की भाषा कुछ सौ वर्ष पहले तक एक ही रही है। यह भाषा संस्कृत रही है। भारतवर्ष का जो कुछ श्रेष्ठ है, जो कुछ उत्तम है, वह इस भाषा के भंडार में संचित किया गया है। जितनी दूर तक इतिहास हमें पीछे ठेल कर ले जा सकता है, उतनी दूर तक इस भाषा के सिवा हमारा दूसरा कोई सहारा दिखायी नहीं देता।

यह केवल भावोच्छ्वास नहीं है, जब आचार्य आगे चल कर कहते हैं, 'मैं नहीं जानता कि संसार के दूसरे देश में इतने काल तक इतनी दूरी तक व्याप्त इतने उत्तम मस्तिष्क में विचरण करनेवाली कोई भाषा है या नहीं, शायद नहीं है।' यह अकारण नहीं था कि उन्नीसवीं शती के मध्य में जब अंग्रेजी शासकों ने भारतीय मानस को औपनिवेशिक ढाँचे में ढालने का बीड़ा उठाया, तो मैकाले के एक सहधर्मी अफसर ने कहा था कि भारतीय मस्तिष्क को पश्चिमी संस्कृति में दीक्षित करने के रास्ते में उनके सामने दो बड़े अवरोध -- संस्कृत भाषा और ब्राह्मणों का बौद्धिक वर्चस्व है। यह क्या आँखें खोल देनेवाला सत्य नहीं है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के साठ वर्ष बाद आज का भारतीय एलीट वर्ग अपनी 'क्रांतिकारी' शब्दावली में वही बात दुहरा रहा है, जो दो सौ वर्ष पूर्व स्कूलों के अंग्रेज इंस्पेक्टर ने कही थी?

सच तो यह है कि हिंदी भाषा और साहित्य का विकास इन दो पाटों के बीच हुआ था। एक ओर औपनिवेशिक सत्ता का राष्ट्रविरोधी अभियान, जो 1857 के विद्रोह के बाद अधिक तीव्र और आक्रामक हुआ था, दूसरी ओर भारत की जातीय संस्थाओं, शिक्षा पद्धति और परंपरागत आर्थिक और आध्यात्मिक आधारों का अवसान, जिसके परिणामस्वरूप भारतीय मानस में एक विचित्र प्रकार की शून्यता और क्षोभ का संचार हुआ था। औपनिवेशिक निराशा और विषाद के ये लक्षण और उन्हें नंगी आँखों से देखने का साहस--- दोनों ही तत्त्व हम भारतेंदु युग के अनेक लेखकों में देख सकते हैं। हिंदी भाषा का संघर्ष तेजी से जर्जरित होते सांस्कृतिक स्रोतों

के बीच अपनी जातीय अस्मिता को प्रतिष्ठित करना था, जिसमें परंपरा के प्रति लगाव उतना ही गहरा था, जितना उसे आधुनिक समय की चुनौतियों का सामना करने के लिए समर्थ बनाने का आग्रह। इसके लिए हिन्दी ने दो रास्तों को चुना, जो ऊपर से परस्पर विरोधी जान पड़ते थे, किंतु जो वास्तवमें एक-दूसरे के पूरक थे। पहला रास्ता संस्कृति के उन समस्त तत्त्वों को अपने भीतर समाहित करना था, जिसे विदेशी शासन ने एक-एक करके जातीय जीवन से उन्मूलित करने का प्रयास किया था, दूसरा रास्ता अपने को उन रूढ़ियों, बंधनों और अंधविश्वासों से मुक्त करवाना था, जो आधुनिक संवेतना को अवरुद्ध करते थे। यह उल्लेखनीय है कि हिंदी भाषी प्रदेश में खड़ी बोली के विकास के पीछे जो ऐतिहासिक बाध्यता थी, उसे ये दोनों रास्ते एक-दूसरे से मिलकर मूर्तिमान करते थे।

हिंदी साहित्य और खड़ी बोली ने जिस साहस और सूझ-बूझ के साथ इन दो प्रतिरोधी धाराओं को अपने भीतर समन्वित किया, यह कोई आसान काम नहीं था। यह एक तरह से नंगी तलवार पर चलना था। आधुनिक युग के तथाकथित 'सेक्युलर' तकाजों को पूरा करते हुए भी अपनी धार्मिक और सांस्कृतिक परंपरा को अक्षुण्ण रख पाना, विशेष कर उस कठिन समय में, जब विदेशी सत्ता सभ्यता के अपने पुनीत अभियान में भारतीय मनीषा को उसके 'बर्बर, जंगली संस्कारों' से उबारने के लिए जी-जान से जुटी थी।

आज जब 'सभ्यताओं के द्वंद्व' की बात की जाती है, तो अक्सर यह भुला दिया जाता है, कि इस द्वंद्व के विषैले लक्षण तो तीन सौ वर्ष पूर्व ही दिखायी देने लगे थे, जब समृद्धि और सफलता के दर्पोन्माद में पश्चिमी सभ्यताओं ने यूरोप के बाहर फैली संस्कृतियों को विध्वंस करना आरंभ किया था। भारतीय सभ्यता का प्रभुत्व पश्चिम की आँखों में सब से अधिक चुनौतीपूर्ण था। इसलिए नहीं कि वह सभ्यता अपने सातत्य में सबसे अधिक दीर्घकालीन और प्राचीन थी, बल्कि इसलिए कि उसने मानव संस्कृति के हर क्षेत्र में— दर्शन, तत्त्वचिंतन, आध्यात्मिक और धार्मिक अंतर्दृष्टियों, न्याय, शासन, शिक्षा और भाषा विज्ञान, विविध कलाओं की साधनाओं, नाट्यशास्त्र आदि में एक संपूर्ण जीवन दृष्टि का अन्वेषण किया था। स्पष्ट ही यूरोपीय सभ्यता के प्रचार में पाँच हजार वर्ष पुरानी भारतीय सभ्यता ऐतिहासिक चोटों और घावों के बावजूद सबसे अधिक खतरनाक अवरोध उपस्थित करती थी। यह आकस्मिक नहीं था, कि भारतीय सभ्यता की इस विपुल और समृद्ध धरोहर ने हिंदी के बहुमुखी चरित्र को बनाने में ऐसा योगदान दिया था, कि वह साहित्य की एक व्यापक, सम्पन्न और स्वावलंबी भाषा बन सकी।

यहाँ यह जोड़ना अप्रासंगिक नहीं होगा कि हिंदी ने अपना वर्तमान राष्ट्रीय चरित्र बिना किसी ऐतिहासिक बाधाओं अथवा राजनीतिक तनावों से मुठभेड़ किये बिना अर्जित कर लिया था। इसके पीछे संघर्ष की जटिल भूमिका थी। शिक्षा और

ज्ञान की समस्त भारतीय संस्थाओं और स्रोतों को, जो अंग्रेजों के भारत आने से पहले भारत के गाँवों और शहरों में मौजूद थीं, किस तरह उत्तरोत्तर नष्ट किया गया। यह हमारे औपनिवेशिक अतीत की दारुण गाथा है, जिसका विशद, विस्तृत विश्लेषण भारतीय इतिहासकार श्री धर्मपाल ने अपनी पुस्तकों में किया है। मद्रास, बंगाल और महाराष्ट्र में गाँवों की सहकारी पाठशालाओं द्वारा संस्कृत और क्षेत्रीय भाषाओं में समस्त वर्गों, वर्णों, और संप्रदायों के बच्चों को भारतीय ज्ञान-विज्ञान में कैसे दीक्षित किया जाता था, इसका परिचय पहली बार हमें इन पुस्तकों में दिये आँकड़ों से मिलता है। इससे हमें यह भी पता चलता है कि भारत की शिक्षा पद्धति पर अंग्रेजी का आरोपण सिर्फ एक भाषाई संकट न हो, समूची सांस्कृतिक परंपरा के संहार की दुर्घटना बनी थी। हिंदी भाषाई प्रांतों में स्थिति और अधिक बदतर थी। विदेशी सत्ता ने अपनी कूटनीति से समूचे जातीय जीवन में प्रयुक्त होनेवाली हिंदी की खड़ी बोली को शासकीय ढाँचे से अलग कर रखा था। सरकारी कामकाज के लिए अंग्रेजी या उर्दू-फारसी का व्यवहार होता था। उर्दू के सहज भारतीय संस्कारों को नष्ट करके उसे फारसी के रंग में ढालने का प्रयास किया जा रहा था। इस तरह के कृत्रिम भाषाई विभाजन ने कालान्तर में सांप्रदायिक रूप धारण किया जो अंततः देश के विभाजन का कारण भी बना। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने समय में बहुत सावधानी से किसी देश के भाषाई और जातीय अंतर्संबंधों का विवेचन किया था। उन्हीं के शब्दों में, "किसी देश के साहित्य का संबंध उस देश की सांस्कृतिक परंपरा से होता है, अतः साहित्य की भाषा उस संस्कृति का त्याग करके नहीं चल सकती।" इस संदर्भ में वह जो आगे कहते हैं, मेरी दृष्टि में वह आज भी उतना ही प्रासंगिक है, जितना उस समय में था, जब शुक्ल जी लिख रहे थे, "जिस प्रकार हिंदीपन निकाल-निकाल कर एक विदेशी ढाँचे की भाषा खड़ी करने का क्रमबद्ध इतिहास है, उसी तरह हिंदी को दूर रखने के घोर प्रयत्नों का भी खासा इतिहास है, जो उस समय से शुरू होता है, जब देश का पूरा शासन अंग्रेजों के हाथ में आया।"

आप देखेंगे, आरंभ से ही हिंदी का दायरा कभी इतना संकीर्ण नहीं रहा कि वह केवल एक प्रादेशिक साहित्य का भाषाई माध्यम बन कर अपने को समेट ले। उसका कर्मक्षेत्र इससे कहीं अधिक व्यापक रहा है। जिन औपनिवेशिक कारणों से उसमें निखार आया, वहाँ उसके लिए यह नैतिक दायित्व बन गया कि वह देश की घोर निराशापूर्ण दरिद्रता को अनदेखा न करके भारतीय मनुष्य के खोये हुए आत्मविश्वास को पुनः जाग्रत कर सके। भारतेन्दु युग के गद्यकारों — विशेषकर बालमुकुंद गुप्त, प्रतापनारायण मिश्र, और सबसे अधिक स्वयं भारतेन्दु हरिश्चंद्र की रचनाओं में इस आत्मविश्वास की उगती हुई नयी चमक दिखाई देती है। यह हिन्दी गद्य के उत्थान, ताजगी और ऊर्जा का ऐसा चरण था, जहाँ भारतीय संस्कृति पर होनेवाले उत्तरोत्तर बढ़ते आक्रमणों का सामना किया गया था। पहली बार खड़ी बोली में रचे हिंदी

साहित्य का स्वायत्त चरित्र उजागर हुआ था। हिंदी के आत्मबोध की शुरुआत धार्मिक परंपरा और संस्कारों से कटकर पश्चिम की तथाकथित आधुनिकता की नकल करने से उत्पन्न नहीं हुई थी, जैसा हम बंगाल नवजागरण के कतिपय बुद्धिजीवियों में देखते हैं। दूसरी तरफ इसमें अतीत की अंधी पूजा भी नहीं थी। दोनों अतियों के बीच हिंदी की रचनात्मक मेधा एक तीव्र आलोचनात्मक चेतना के भीतर से प्रस्फुटित हुई थी।

किंतु यहाँ हमें एक बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। जरूरी नहीं, जो भाषाएँ ऐतिहासिक चुनौतियों के उत्तर में एक तरह का सांस्कृतिक दायित्व अपने ऊपर ओढ़ती हैं, उनका सृजनात्मक साहित्य कलात्मक रूप से भी सशक्त हो। इतिहास में किसी जाति के आत्मबोध का क्षण महत्त्वपूर्ण है, किंतु जन्म लेनेके बाद वह तुरंत ही साहित्यिक रचनाओं में अवतरित नहीं हो जाता। उसके लिए मनुष्य के स्वायत्त व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास अनिवार्य होता है, जिसे बनने में समय लगता है। साहित्य में किसी 'नये' के आगमन की आहट सुनना एक बात है, उसका कविता या कहानी में कलात्मक सौष्ठव के साथ रूपांतरित होना बिलकुल दूसरी बात है। आज जब हम भारतेंदु युग की ऐतिहासिक देन की बात करते हैं, तो उन आत्म-निबंधों और लेखों की ओर ध्यान अधिक जाता है, जहाँ हिंदी गद्य की क्रिटिकल चेतना सीधे बाह्य परिस्थितियों के आघातों को व्यक्त करती थी, जो भारतीय संस्कृति पर हो रहे थे, पर हमें उन अंदरूनी संश्लिष्ट परिवर्तनों का अधिक पता नहीं चलता, जो स्वयं व्यक्ति के भीतर हो रहे थे -- जिससे अनुभूति-जगत् की बदलती हुई बनावट का पता चल सके। यह नहीं कि कला और साहित्य में बाहरी परिस्थितियों का कोई महत्त्व नहीं होता, पर उतना ही जितना वे माध्यम से मनुष्य के मानस में होनेवाली हलचलों, परिवर्तनों और नये उन्मेषों को उद्घासित कर सकें। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए इक्का-दुक्का उदाहरण देना ही पर्याप्त होगा।

बंगाल के नवजागरण के दिनों में उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में जो धुँआँधार सैद्धांतिक वाद-विवाद हो रहे थे -- भारतीय परंपरा और पश्चिमी आधुनिकता के बीच, ब्रह्म समाज के एकेश्वरवाद और धर्म की बहुल दैवी आस्थाओं के बीच -- यह एक ऐसी आत्ममंथन की सांस्कृतिक वार्ता थी जिनके प्रमुख प्रतिनिधि राजा राममोहन राय, बंकिमचंद्र, केशवचंद्र सेन, विवेकानंद आदि मनीषी साधक थे। उल्लेखनीय बात यह है कि नवजागरण की यह वार्ता सिर्फ इतिहास के पन्नों पर एक 'बौद्धिक आंदोलन' के रूप में अंकित हो कर सिमट जाती, यदि उनका पुंजीभूत प्रतिफलन हमें रवींद्रनाथ के उपन्यास 'गोरा' में न दिखाई देता। यह उपन्यास कलात्मक रूप से इसलिए उत्कृष्ट नहीं है, कि वह सिर्फ सैद्धांतिक बहसों का एक जीवंत दस्तावेज है (जो वह है भी), किंतु इसलिए है, कि वह भारतीय नवजागरण के समस्त अंतर-विरोधी तत्त्वों के संश्लिष्ट सम्मिश्रण से उत्पन्न भी हुआ है और पूरी समग्रता से अपनी औपन्यासिक संरचना में प्रतिबिंबित भी करता है। इसी तरह भारतेंदु युग के निबंधात्मक गद्य की

व्यंग्यात्मकता और अवसाद अंततः प्रेमचंद की कथाकृतियोंमें अपने समय का अतिक्रमण करती हुई आज भी हमें इतना उद्वेलित कर पाती हैं। यह बात टॉल्स्टॉय के उपन्यास 'युद्ध और शांति' जैसे एपिक उपन्यास पर और भी अधिक सटीक ढंग से लागू होती है, जो रूस पर नेपोलियन के आक्रमण के पचास वर्ष बाद लिखा गया था, ताकि बीच के अंतराल में रूसी मानसिकता के भीतर जो उथलपुथल हुई थी -- उन्हें लेकर लेखक अधिक गहरी निस्संग वस्तुपरकता के साथ 'रूसी आत्मा'के मर्म को उद्घाटित कर सके।

इन सब उदाहरणों को देने के पीछे मेरा आशय इतना है कि जिन बाहरी परिस्थितियों के संघर्षण से किसी जाति का चरित्र गठन होता है, वे जब तक अपनी पैठ मनुष्य के अनुभूतिक्षेत्र की आंतरिकता में नहीं कर लेते, तब तक उनका कलात्मक रूप, कविता या उपन्यास में पूरी उत्कटता से प्रकट नहीं हो सकता। इसके साथ यह भी सच है कि एक बार कलात्मक अभिव्यक्ति पा लेने के बाद वह किसी सामाजिक या ऐतिहासिक व्याख्याओं की तुलना में कहीं अधिक गहरी समग्रता के साथ संवेदनशील और बहुआयामी बना देने में समर्थ होता है।

मेरे कहने का मतलब सिर्फ इतना है कि भाषा विचारों, विश्वासों और सिद्धांतों को प्रकट करने का माध्यम ही नहीं होती बल्कि उसमें एक जाति सांस्कृतिक बिंब, ऐतिहासिक स्मृतियों और पारंपरिक संस्कारों के मूल स्वर भी अनुगुंजित होते हैं। बहुत पहले आनंद कुमार स्वामी ने पश्चिम के 'ओरिएंटलिस्ट' विद्वानों की व्याख्याओं पर व्यंग्य करते हुए कहा था कि 'उन्होंने भारत की प्राचीन दर्शन, धर्मशास्त्रों और तत्त्व ज्ञान की पुस्तकों के बीज-शब्दों एवं प्रत्ययों के जो अनुवाद किये हैं, वे सिर्फ भ्रमों की धुंध पैदा करते हैं। इसका सीधा-सा कारण यह है, कि वे इन प्रत्ययों के सांस्कृतिक संदर्भ समझने में नितांत विफल रहे हैं। सच तो यह है कि इन अनुवादों को अस्वीकार करके ही इन ग्रंथों के मूल सत्य को जाना जा सकता है।'

यह उल्लेखनीय है कि भारतीय भाषाओं के जो सांस्कृतिक प्रत्यय यूरोपीय मानस के लिए इतने पराये और भ्रांतिमूलक हो जाते हैं, वे ही भारतीय साहित्य को एक समान जातीय संदर्भ प्रदान करते हैं। भारतीय साहित्य भले ही भिन्न भाषाओं में रचा जाता हो, उसके रचनात्मक स्रोत वेद, उपनिषदों के आध्यात्मिक प्रत्ययों और रामायण, महाभारत जैसे महाकाव्यों में संगृहीत स्मृतियों में ही निहित हैं, जिसके कारण एक भारतीय भाषा में लिखी कविता और कहानी बिना किसी भूल या भ्रांति के दूसरी भाषा में इतनी सुगमता से कायाकल्पित हो जाती है। यह तो मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव से कह सकता हूँ, कुछ वर्ष पहले 'गोरा' का अंग्रेजी अनुवाद पढ़ते हुए मुझे वह उपन्यास बहुत बोझिल और बनावटी जान पड़ा था..... मुझे थोड़ी हैरानी भी हुई थी कि रवि बाबू जैसा लेखक ऐसी कमजोर कृति कैसे रच सकता था। किंतु कुछ अंतराल के बाद जब सौभाग्य से इसी उपन्यास का हिंदी अनुवाद पढ़ने को मिला, जो

संयोगवश अज्ञेय ने किया था, तो अनायास उस पुस्तक के बारे में न केवल मेरी शंकाएँ दूर हो गयीं, बल्कि वह मुझे --- जैसा मैं पहले कह चुका हूँ --- बंगाल नवजागरण का सबसे सशक्त प्रतिनिधि कला-कृति जान पड़ा, जहाँ पहली बार भारतीय मनुष्य की स्वाधीन चेतना से साक्षात्कार होता है। ऐसा किस किस तरह संभव हो सका? इसका सीधा-सा उत्तर यह है, कि हिंदी अनुवाद में वे समस्त सांस्कृतिक संदर्भ अपनी समूची प्राणवत्ता के साथ अवतरित हुए थे, जैसा उनका प्रयोग बंगला की मूल भाषा में हुआ था। उपन्यास के अंग्रेजी अनुवाद में जो बहसें इतनी बोझिल और सूखी जान पड़ती थीं, वही हिंदी में एक पुरातन सभ्यता के बीच होनेवाले वैचारिक आलोड़न को इतनी जीवंत नाटकीयता और अर्थवत्ता प्रदान करती थीं।

मैं यहाँ इस बात पर इसलिए भी जोर डालना चाहूँगा कि हिंदी के वर्तमान साहित्य को --- उस पर होने वाले समस्त पश्चिमी प्रभावों के बावजूद --- हजारों वर्षों से चले इन सांस्कृतिक संदर्भों से काट कर नहीं देखा जा सकता। यही नहीं, मैं कुछ आगे बढ़ कर यह भी जोड़ना चाहूँगा कि पश्चिमी साहित्य और संस्कृति का प्रभाव हमारी सृजनात्मक ऊर्जा को समृद्ध और व्यापक बनाने में उस सीमा तक उपयोगी हो सकते हैं, जिस सीमा तक हमारे साहित्य की धारा अपने परंपरागत स्रोतों से अनवरत प्रेरणा-शक्ति अर्जित करती है। यदि आज हमारे आधुनिक हिंदी साहित्य की अमर कृतियाँ --- कामायनी, गोदान, शेखर, त्यागपत्र, राम की शक्तिपूजा, मैला आँचल, अंधा युग आदि हमारे भावबोध को कहीं इतने गहरे तक आलोड़ित करती हैं, तो इसलिए कि भक्ति काल के कवियों की भाँति उन्होंने हमारे भारतीय मानस के परंपरागत अंतर्संबंधों को एक नये पैटर्न में पुनः संयोजित करने का प्रयास किया, ताकि हम भारतीय मनुष्य की छवि को अधिक व्यापक परिप्रेक्ष्य में देख सकें।

यदि कोई मुझ से पुछे कि भारतीय संस्कृति के मर्म को कौन सा बीज शब्द सटीक ढंग से व्यक्त करता है तो मैं नितांत संशयहीन भाव से उसे 'अंतर्संबंधों की अंतहीन शृंखला' का नाम दे सकता हूँ। एक ऐसी शृंखला, जिसकी कड़ियाँ एक जैसी रहती हैं, किंतु उनके आपसी संबंध हमेशा बदलते रहते हैं। सातत्य के बीच होनेवाले परिवर्तन और परिवर्तनों के बीच अक्षुण्ण रहनेवाला सातत्य। संस्कृति का यह मर्म भारतीय दर्शन, तत्त्वज्ञान और आध्यात्मिक अन्वेषण में तो प्रकट होता ही है, किंतु साहित्य में उसका सबसे प्रत्यक्ष और प्रमाणित रूप दिखाई देता है। आत्म की अनात्म से जुड़ने की मर्मांतक आकांक्षा भारतीय महाकाव्यों में जितनी उत्कटता से उद्घाटित होती है, वही कालांतर में भक्ति काव्य की गहन अंतर्दृष्टि और आधुनिक काल की हिंदी साहित्यिक संचेतना में दिखाई देती है। यदि महाभारत में मनुष्य की नैसर्गिक प्रकृति के अँधेरे-उजाले पक्ष दिखाई देते हैं, तो रामायण में उसकी सामाजिक मर्यादाओं के पारिवारिक अंतर्विरोध प्रकट होते हैं। स्वभावगत नैसर्गिकता और नैतिक मर्यादाओं को जोड़नेवाली कड़ी 'धर्म' की अवधारणा में अभिव्यक्त होती है, जो परंपरागत

नैतिकता और आदिम आकांक्षाओं --- दोनों से ऊपर है और दोनों को परिशोधित भी करती है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भारतीय समाज में धर्म की यह चालक शक्ति किसी सूत्र, सिद्धांत या लगे-बँधे फार्मूले में नहीं निरूपित की जा सकती.....हर स्थिति में उसकी भूमिका एक जैसी नहीं रहती। यह चीज जहाँ एक तरफ धर्म की अवधारणा को द्विधात्मक (ambiguous) बनाती है, वहाँ उसे खुला छोड़ कर बहुत अर्थयता प्रदान करती है। महाभारत के महाकाव्य की अद्भुत कलात्मक शक्ति खास इस बात में निहित है कि किसी कर्म को काले-सफेद, अच्छे-बुरे, उचित-अनुचित के सरलीकृत ढाँचों में नहीं वर्गीकृत किया जा सकता। यहाँ तक कि गीता में कृष्ण का संदेश बहुत देर तक स्मृति में नहीं रहता, जिसके कारण 'धर्म-संकट' की स्थितियाँ बार-बार दुहराई जाती हैं, जिनका समाधान हर बार नये ढंग से किया जाता है।

धर्म की गरिमा का प्रभुत्व और उसके अर्थों की बहुलता भारतीय साहित्य को एक अद्भुत गतिशीलता प्रदान करती है। इससे हमें साहित्य-समय और समय के अंतर्संबंधों का अनूठा सत्य हाथ लगता है। हमें पता चलता है कि 'साहित्यिक समय' अपनी गत्यात्मकता में उससे बहुत भिन्न होता है, जिसे हम 'ऐतिहासिक समय' मानते आये हैं। ऐतिहासिक घटनाएँ समय के प्रवाह में एक बार प्रकट हो कर हमेशा के लिए विलुप्त हो जाती हैं; याद भी रहती हैं, तो विगत का अंग बन कर। इसके विपरीत साहित्य के सत्य का समय से संबंध एक नितांत दूसरे स्तर पर होता है। साहित्य की उत्कृष्ट रचनाएँ सुदूर अतीत में रची होने के बावजूद मनुष्य के हर 'वर्तमान' में एक नयी प्रासंगिकता लेकर पुनर्जन्म लेती हैं; अतीत में जन्म लेने पर भी वह विगत का अतिक्रमण कर लेती हैं और समय का एक ऐसा शाश्वत 'स्पेस' निर्मित करती हैं, जहाँ हर रचना एक-दूसरे की समकालीन होती है, चाहे उसके जन्म का समय और स्थान कभी भी हो, कहीं भी हो। इसका प्रमुख कारण यह है कि साहित्य का आत्यंतिक संबंध मनुष्य की आंतरिक प्रकृति से होता है, न कि उन सामयिक घटनाओं से जो सतह के ऊपर से गुजर जाती हैं।

मैं यदि साहित्य के इस सर्वविदित सत्य को दुहराने की जरूरत महसूस कर रहा हूँ, तो इतिहास या ऐतिहासिक घटनाओं का महत्त्व कम करने के लिए नहीं, बल्कि इसलिए कि भारतीय मनीषा में इतिहास की वह आक्रामक चालक-शक्ति कभी नहीं रही, जैसा हम पश्चिमी संस्कृति में देखते हैं। इतिहास के इस प्रभुत्व के कारण ही मैक्समूलर जैसे 'ओरिएंटलिस्ट' विद्वानों ने भारत के अतीत को उसके वर्तमान से इस तरह विभाजित कर दिया, जैसे इन दोनों के बीच साहित्य और संस्कृति के कोई संबंध-सूत्र न हों। उनकी दृष्टि में भारत का वर्तमान उसके 'गौरवपूर्ण' अतीत का महज एक भ्रष्ट संस्करण मात्र था, जिसका अपना कोई भविष्य नहीं था, सिवा इसके कि वह यूरोपीय साहित्य और संस्कृति में अपने को ढाल कर स्वयं को अपने अतीत से हमेशा के लिए मुक्त कर सके। अंग्रेजी शासन-तंत्र भारतीय मनीषा में जो फाँक

अंकित कर गया था, वह आज एक नासूर की तरह कायम है, जिसने उन समस्त स्रोतों को सूखा और बंजर बना कर छोड़ दिया है, जिनसे एक समय में भारतीय साहित्य और भाषाएँ अपनी ऊर्जा का नवीकरण करती थीं।

आधुनिक हिंदी साहित्य --- इन अवरोधों के बावजूद --- यदि निरंतर अपने को नयी परिस्थितियों में ढालने में समर्थ होता रहा, तो इसके दो प्रमुख कारण मुझे दिखाई देते हैं। दोनों अलग-अलग होते हुए भी एक-दूसरे से अंतर्गुम्फित हैं। हिंदी साहित्य में खड़ी बोली का एक वयस्क साहित्यिक भाषा के रूपमें प्रसार --मेरी दृष्टि में एक अभूतपूर्व ऐतिहासिक घटना थी। शायद ही किन्हीं अन्य भारतीय भाषाओं में इस तरह का 'भाषाई मोड़' दिखाई देता है। कौन अनुमान लगा सकता है कि जिस भाषा में आधुनिक हिंदी कहानी और उपन्यास का जन्म और विकास हुआ, वह मुश्किल से डेढ़ सौ वर्ष से अधिक नहीं है। आधुनिक हिन्दी कविता ब्रजभाषा और अवधी से अपने को मुक्त करके एक नितान्त नये मुहावरे में, नयी संवेदनाओं, अनुभवों और आकांक्षाओं को व्यक्त करने की शक्ति जुटा पायेगी, यह केवल ऐसी भाषा में संभव हो सकता था, जिसमें बाह्य प्रभावों को अपने में समाहित करने की क्षमता और लचीलापन दोनों ही हों, और यह चीज मुझे उसके विकास के दूसरे कारण की ओर ले जाती है --- हिंदी का अपनी प्रादेशिक सीमाओं से ऊपर उठकर 'भारतीय' होने की सांस्कृतिक अंतःप्रेरणा, जिसके कारण उसे विदेशी सत्ता के विरुद्ध स्वतंत्रता संग्राम में सहज रूप से 'राष्ट्रीय भाषा' बनने का गौरव प्राप्त हो सका। यह अकारण नहीं कि उस समय दूसरी भाषाओं के शीर्षस्थ साहित्यकार, रवींद्रनाथ ठाकुर, सुब्रह्मण्यम भारती आदि, अनेक लेखक हिंदी को राष्ट्रीय अस्मिता और एकता का एक केंद्रीय प्रतीक मानते आये थे।

आज जब हम हिंदी साहित्य के वर्तमान और भविष्य पर विचार कर रहे हैं तो हमें भारतीय मानस के इन तत्त्वों को नहीं भुला देना चाहिए जो समय और इतिहास की खूँटी पर न बँधे होकर संस्कृति की उन अंतःप्रक्रियाओं द्वारा अनुप्राणित होते हैं, जिन्हें युंग जैसे पश्चिम के मनोवैज्ञानिक आदिम या archetypal तत्त्व कहते हैं --- ऐसे प्रागैतिहासिक मिथक और प्रतीक, जो एक जाति के अवचेतन में वास करते हैं -- एक संस्कृति के कालातीत अवयव, जो हर युग में बाह्य दबावों का सामना करने के लिए अपने को पुनर्गठित कर लेते हैं। पुनर्गठन की इस प्रक्रिया में भाषा और साहित्य का गहरा योगदान रहता है। भाषा में उसकी चिरंतनता और साहित्य में उसकी गतिशीलता देखी जा सकती है। यह महज संयोग नहीं था कि जिस भाषा में सत्य, अहिंसा, आत्म, शून्य, मुक्ति जैसे प्रत्यय इतना महत्त्व रखते हैं, वे ही कालांतर में बुद्ध के निर्वाण दर्शन, गांधी के सत्य-आग्रह और अहिंसा-प्रेम, श्री अरविंद की आध्यात्मिक गूढ़ अंतर्दृष्टि में नयी धार्मिक, नैतिक और आध्यात्मिक अर्थवत्ता प्राप्त कर लेते हैं। हिंदी भाषा और साहित्य इन दोनों ध्रुवों -- एक तरफ परंपरागत प्रतीकों और मूल्यों का सातत्य और दूसरी तरफ परिवर्तनशील मानवीय संवेदनाओं की व्यापकता --- के बीच अपना विशिष्ट और बहुमुखी पहचान बना सका था।

यह एक ऐतिहासिक विडंबना ही मानी जायगी कि स्वतंत्रता आंदोलन के ज्वार में हिंदी को जो राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त हुआ था, वह स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद धूमिल पड़ता गया। यह हिंदी का दुर्भाग्य ही नहीं, समूची भारतीय संस्कृति की त्रासदी थी, कि दो सौ वर्षों के दौरान जिस विदेशी सत्ता ने हमारे शिक्षण-अध्ययन और चिंतन के जिन स्वदेशी स्रोतों को इतनी बर्बरता से नष्ट किया था, उन्हें हमारे जातीय जीवन में पुनर्जीवित करने के लिए कोई प्रयास नहीं किया गया, उल्टे हमारी मानसिकता पर राजकीय संस्थाओं और शिक्षा-प्रणाली का आतंककारी प्रभुत्व उत्तरोत्तर बढ़ता गया, जो एक समय में विदेशी राज्य-सत्ता की प्रशासनिक सुविधाओं के लिए निर्मित की गयी थी, स्वाधीन भारत में पराधीन संस्कृति का यह एक अनुपम उदाहरण था। आधुनिकता के उन्माद के बावजूद हमारे सार्वजनिक जीवन में जो शून्यता, दरिद्रता और दिशाहीनता दिखाई देती है, उसके कारण खोज पाना मुश्किल नहीं है।

एक प्राचीन सभ्यता की प्राणवत्ता उसके सांस्कृतिक प्रतीकों और जीवनदायी आस्थाओं में संचारित होती है, जो एक समय में हमारे चिंतन, सृजन और दैनिक व्यावहारिक जीवन को एक अर्थवत्ता प्रदान करते थे; जब उनकी जीवंत समग्रता खंडित हो कर छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट जाती है, परंपरागत संस्कारों के कारण उनकी नामलेवा पूजा तो होती है, किंतु समाज को उससे किसी तरह की सृजनात्मक प्रेरणा अथवा आत्मनिर्भरता की आश्वस्त प्राप्त नहीं होती। हम अपने ही देश में आत्मनिर्वासित प्राणियों की तरह जीने के लिए अभिशप्त हो जाते हैं। पिछले वर्षों में हमारे जीवन की नैतिक-मर्यादाओं और चिंतन-अध्ययन के स्रोतों पर जिस तरह अंग्रेजी भाषा और शिक्षा का वर्चस्व बढ़ा है, वह इसका स्वयं सटीक प्रमाण है। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बहुत अवसाद भरे शब्दों में हमारी सांस्कृतिक दुर्दशा का वर्णन किया है, "अंग्रेजी भाषा ने संस्कृत का सर्वाधिकार छीन लिया है। आज भारतीय विद्याओं की जैसी विवेचना और विचार अंग्रेजी भाषा में है, उसकी आधी चर्चा का भी दावा कोई भारतीय भाषा नहीं कर सकती। यह हमारी सबसे बड़ी पराजय है। राजनीतिक सत्ता के छिन जाने से हम उतने नतमस्तक नहीं हैं, जितने अपने विचार की, दर्शन की, अध्यात्म की अपनी सर्वस्व भाषा छिन जाने से। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हम अपनी ही विद्या को अपनी बोली में न कह सकने के उपहासास्पद अपराधी हैं। यह लज्जा हमारी जातीय है।"

जिसे द्विवेदी जी ने 'उपहासास्पद अपराध' कहा है, उसके लिए मेरी दृष्टि में भारतीय संभ्रांत शिक्षितवर्ग सबसे अधिक जवाबदेह रहा है, एक तरफ इस वर्ग को शिक्षा और ज्ञान अर्जित करने की समस्त सुविधाएँ प्राप्त हैं, दूसरी ओर वह उन सब कर्तव्यों और दायित्वों के प्रति उदासीन हैं, जो एक बुद्धिजीवी वर्ग अपने समाज में संपन्न करता है। अपनी और साहित्य की जिन जड़ों से उनके संस्कार पोषित होते हैं, वह धीरे-धीरे उनसे कटता जाता है और एक कृत्रिम परिवेश में रहने लगता है। 'आत्म-ज्ञान रहित ज्ञान' का बंजर मरुस्थल, जहाँ आत्मचेतना के विस्तार की कोई

संभावना नहीं। इसका दुष्परिणाम हमारे सामने है.....हमारे हिंदी भाषी समाज में, जिसका गद्य भारतेंदु युग में एक खुली और गहरी आलोचनात्मक मेधा से संपन्न था, आज वहाँ एक खाली और क्रांतिकारी रेस्ट्रिक के अलावा किसी तरह की वयस्क और विवेकपूर्ण चेतना नहीं दिखाई देती। हिंदी साहित्य की रचनात्मक संवेदनाएँ अपने में इतना समृद्ध होने पर भी केवल एक छोटे वर्ग तक सीमित रह गयी हैं। हिंदी भाषाई समाज की लोक चेतना का विस्तार और परिष्कार करने में उनकी भूमिका नगण्य जान पड़ती है। क्या हम इन दोनों के बीच फैले अंतराल को पाट कर एक व्यापक सांस्कृतिक चेतना में संयोजित कर पाने में सफल हो पायेंगे? आनेवाले समय में हमारे सामने यही सबसे बड़ी चुनौती है।

*We Strive
to Satisfy
Our Customers*

VASUNDHARA MARKETING CO.

Sales Tax No. LC/13/017261/1080
☎ 3277883 (Off.)

Regd. Office
1/3575, Netaji Subhah Marg
Darya Ganj, New Delhi-110002

द्यूत

नरेन्द्र कोहली*

धर्मराज युधिष्ठिर ने मय दानव के माध्यम से सभा बनवाई तो राजसूय यज्ञ कर मानवता के कल्याण के लिए विद्वानों को वहां एकत्रित किया और विभिन्न राजाओं से एकत्रित धन विद्वानों, ब्राह्मणों, बुद्धिजीवियों तथा अभावग्रस्त लोगों में बांटा। इसकी प्रतिक्रिया में दुर्योधन ने जिस तोरणस्फटिक सभा¹ का निर्माण करवाया, मेरा अनुमान है कि वह आधुनिक कैसिनो जैसा कोई संस्थान था, जिसमें मनोरंजन के नाम पर द्यूतक्रीड़ा का आयोजन होता था। उसमें न ब्रह्मचर्या हो सकती थी, न भक्ति पूजा, न हवन यज्ञ की कोई संभावना थी, न विचार और चिंतन हो सकता था, न उदात्त भावनाओं का आदान प्रदान। उसमें क्रीड़ा के नाम पर द्यूतक्रीड़ा ही हो सकती थी। निश्चित रूप से उसमें भाग लेने के लिए प्रसिद्ध और व्यसनी द्यूतकार आए होंगे। महाभारत में जिस क्षत्रिय समाज का चित्रण है, वह प्रायः द्यूतप्रेमी है। दुर्योधन ने अपने गौरव के रूप में द्यूत के आयोजनार्थ तोरणस्फटिक सभा का निर्माण कराया। युधिष्ठिर न केवल राजाओं में अग्रणी और सम्राट थे, वे पांडवों और धार्तराष्ट्रों में सब से ज्येष्ठ थे। अतः उनको द्यूत खेलते देख, सामान्यतः यही धारणा बनती है कि वे द्यूत के व्यसनी रहे होंगे। अभिमन्यु के विवाह के अवसर पर उपप्लव्य नगर में बलराम ने उनपर यह आरोप लगाया है; और उन्हें अपनी हार के लिए दोषी ठहराया है।

हस्तिनापुर आने से पहले इंद्रप्रस्थ में विदुर और युधिष्ठिर में बहुत खुल कर विचार विनिमय हुआ है, जिसमें युधिष्ठिर ने द्यूत का भयंकर विरोध किया है। हस्तिनापुर पहुँच कर एक पूरा अध्याय युधिष्ठिर और शकुनि के उस वादविवाद का है, जिसमें शकुनि ने द्यूत का समर्थन और युधिष्ठिर ने उसका विरोध किया है:

1. “जूए में तो झगड़ा फसाद होता है। कौन समझदार मनुष्य जूआ खेलना पसंद करेगा +++”²

2. “मेरे मन में जूआ खेलने की इच्छा नहीं है।”³

3. “जूआ तो एक प्रकार का छल है तथा पाप का कारण है। इसमें न तो क्षत्रियोचित पराक्रम दिखाया जा सकता है, और न उसकी कोई निश्चित नीति ही

* डॉ. नरेन्द्र कोहली हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार एवं विचारक हैं।

है।”⁴

कोई व्यसनी अपने व्यसन की निन्दा नहीं करता। महाभारत के अनुसार युधिष्ठिर को द्यूतक्रीड़ा का तनिक भी ज्ञान नहीं था। हस्तिनापुर की द्यूत सभा से पहले वे कभी जूआ खेलते दिखाए भी नहीं गए। इस द्यूत में अपना सर्वस्व गँवा कर वन जाते हुए, पांडवों के मन में भय है कि कहीं धृतराष्ट्र उन्हें पुनः जूआ खेलने के लिए न बुला लें। ऐसे में वे पांडवों के अस्त्र-शस्त्र भी जीत सकते हैं परिणामतः पांडव सर्वथा अशक्त और असहाय हो जाएंगे। इसीलिए पहला अवसर मिलते ही युधिष्ठिर वन के मार्ग में मुनि बृहदश्व⁵ से द्यूत और अश्वपालन की विद्या सीखते हैं। द्यूतविद्या सीख कर ही वे कंक के रूप में विराट की राजसभा में उनके सहचर बन कर अज्ञात रह सकने में समर्थ होते हैं।

मेरे लिए यह स्वीकार करना बहुत कठिन है कि जिस व्यक्ति को द्यूत का ज्ञान ही न हो, वह व्यसनी हो सकता है। फिर भी हम देखते हैं कि वे द्यूतसभा में न केवल जूआ खेलते हैं, वरन् अंत तक खेलते हैं; और सर्वस्व हार कर उठते हैं। उनके इस व्यवहार का कोई स्पष्टीकरण तो होना ही चाहिए।

युधिष्ठिर की एक उक्ति को विचार-विमर्श में बार-बार उद्धृत किया जाता है। जहां युधिष्ठिर यह कहते हैं कि वैसे तो जूआ खेलना बुरी बात है, अनर्थ की जड़ है, किंतु यदि उन्हें बुलाया जाएगा तो वे पीछे नहीं हटेंगे। इस उक्ति की व्याख्या करते हुए अनेक लोगों ने यह स्वीकार किया कि यह युधिष्ठिर का क्षात्रधर्म था। क्योंकि क्षत्रिय युद्ध और चुनौती को अस्वीकार नहीं करता। किंतु हमें इस ओर ध्यान देना चाहिए कि युधिष्ठिर ने अपना क्षात्र गौरव अथवा क्षात्र अभिमान कभी प्रकट नहीं किया। उन्हें क्षत्रिय धर्म की नहीं, केवल धर्म की चिंता थी। जहां तक क्षत्रियों के युद्ध की बात है, युधिष्ठिर को महाभारत के युद्ध में एक स्थान पर पलायन करते भी चित्रित किया गया है। इसीलिए युधिष्ठिर क्षत्रियों के व्यसन की निन्दा करते हैं। यहां जूए के निमंत्रण के लिए, ‘आहूत’ शब्द का प्रयोग है, जो चुनौती के अर्थ में नहीं, धृतराष्ट्र के बुलाने के रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए। धर्मराज तथा उनके भाई, उन लोगों में से है, जो अपने छोटे से धर्म के लिए, बड़ी से बड़ी परीक्षा देने के लिए प्रस्तुत हैं। इसीलिए युधिष्ठिर मन में पूर्णतः विरोधी भाव रखते हुए भी धृतराष्ट्र के बुलावे का सम्मान रखने के लिए, जुआ खेलने बैठ जाते हैं।

महाभारत में पांडवों के संदर्भ में धृतराष्ट्र के लिए कहीं भी ताऊ शब्द का प्रयोग नहीं किया गया। मूल श्लोकों में उनको पिता ही कहा गया है। यद्यपि पिता शब्द का अर्थ पालनकर्ता होता है और इसमें संदेह नहीं कि पांडु की अनुपस्थिति में धृतराष्ट्र ही पांडवों के लिए पिता के स्थान पर थे। किंतु वारणावत जाते हुए, पांडवों के विषय में यह कहा गया: सर्वा मातृस्तथाअपृच्छ्य कृत्वा चैव प्रदक्षिणत्⁶। यहां

माताओं से आज्ञा लेने की चर्चा है। हम जानते हैं कि कुंती के अतिरिक्त पांडु की एक ही पत्नी थी - माद्री। उसका देहांत हो चुका था। इसीलिए पांडवों की कोई दूसरी माता नहीं थी। फिर भी वहां माता शब्द का प्रयोग बहुवचन में हुआ है। वह शब्द गांधारी और विदुर की पत्नी के लिए है। इसका अर्थ यह हुआ कि वे लोग पिता के भाइयों को पिता के समकक्ष, समतुल्य और स्थानापन्न मानते थे; और ताई तथा चाची को भी अपनी माता ही स्वीकार करते थे। यह स्थिति केवल संबोधन के लिए नहीं थी। व्यवहारतः भी वे लोग इन संबंधों को स्वीकार करते थे। ऐसी स्थिति में धृतराष्ट्र का प्रत्येक आदेश युधिष्ठिर के लिए पिता का आदेश था।

स्वामी विवेकानन्द ने कहा है कि धर्म के अनेक रूप हैं और विभिन्न लोगों में उनका धर्म विभिन्न गुणों में प्रकट होता है। किसी का धर्म में, किसी का कर्म में, किसी का आज्ञापालन में, किसी का सेवा में, किसी का वचन की रक्षा में, इत्यादि। युधिष्ठिर का धर्म उनके सत्य में था। और उसका सत्य बड़ों की आज्ञा के पालन में भी निहित था। ऐसी स्थिति में यह जानते हुए भी कि धृतराष्ट्र की इच्छा है कि हस्तिनापुर का राज्य दुर्योधन को मिले - उसके लिए चाहे पांडवों को यमलोक ही भेजना पड़े, युधिष्ठिर धृतराष्ट्र की किसी भी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते। वे पिता की आज्ञा का पालन लगभग उतनी ही निष्ठा से कर रहे हैं, जितनी निष्ठा से राम दशरथ की आज्ञा का पालन करते हैं। साधारण सांसारिक व्यक्ति के लिए यह युधिष्ठिर की मूर्खता हो सकती है; किंतु युधिष्ठिर का चरित्र साधारण सांसारिक मनुष्य की दृष्टि से निर्मित नहीं हुआ है। वे धर्मराज हैं। अपने धर्म का पालन अपनी धन संपत्ति ही नहीं अपने प्राण देकर भी वे करेंगे। ऐसी स्थिति में युधिष्ठिर धृतराष्ट्र से तर्क तो कर सकते हैं, किंतु उसकी आज्ञा का पालन करने से इंकार नहीं कर सकते। द्यूतसभा में हुई द्यूतक्रीड़ा के संदर्भ में युधिष्ठिर अपने इसी धर्म के वचन में बंधे हुए दिखाई पड़ते हैं। वे द्यूतक्रीड़ा का निरंतर विरोध कर रहे हैं। किंतु जूआ खेलने से मना नहीं करते। क्योंकि यह धृतराष्ट्र का आदेश था।

अध्यात्म और संसार का विरोध सर्वविदित है। सांसारिक रूप से सफल व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से निकृष्ट कोटि का जीव सिद्ध हो सकता है। और आध्यात्मिक रूप से विकसित उत्कृष्ट जीवात्मा, सांसारिक दृष्टि से महामूर्ख दिखाई पड़ती है। युधिष्ठिर का चरित्र भी आध्यात्मिक रूप से अत्यंत विकसित चरित्र है और निरंतर विकास कर रहा है। उनके आदर्श सांसारिक नहीं आध्यात्मिक हैं।

इंद्रप्रस्थ में विदुर की चेतावनी के पश्चात् वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं, “मैं राजा धृतराष्ट्र की आज्ञा से जूए में अवश्य चलना चाहता हूं। पुत्र को पिता सदैव प्रिय है।”⁷ धृतराष्ट्र के सम्मुख पहुंच कर भी उन्होंने कहा, “राजन! आप हमारे स्वामी हैं। आज्ञा दीजिए, क्या करें। भारत! हम लोग सदा आपकी आज्ञा के अधीन रहना चाहते

हैं।”⁸ वे तो महाभारत का युद्ध जीत लेने के पश्चात् भी सारा राज्य धृतराष्ट्र को सौंपने को प्रस्तुत हैं; क्योंकि पिता स्वामी है और पुत्र उसकी आज्ञा में है।

एक बार सब कुछ हार कर द्रौपदी के भरपूर अपमान के पश्चात् जब धृतराष्ट्र के वरदान स्वरूप युधिष्ठिर को अपना राज्य और संपत्ति वापस मिल जाती है तो पाठक चैन की सांस लेता है। किंतु युधिष्ठिर को पुनः बुलाया जाता है और वह पुनः जूआ खेलने बैठ जाते हैं। कोई भी साधारण पाठक यही पूछता है कि यह पागलपन क्यों? उनके पुनः द्यूत में उपस्थित होने का भी ठीक वही कारण है, जो पहली बार था - पिता और राजा धृतराष्ट्र का आदेश:

1. “भरतकुल भूषण पांडुनन्दन युधिष्ठिर! आपके पिता राजा धृतराष्ट्र ने यह आदेश दिया है कि आप लौट आएं। हमारी सभा फिर सदस्यों से भर गई है और तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है। तुम पांसे फेंक कर जूआ खेलो।”⁹

2. युधिष्ठिर ने कहा, “समस्त प्राणी विधाता की प्रेरणा से शुभ और अशुभ फल प्राप्त करते हैं। उन्हें कोई टाल नहीं सकता। जान पड़ता है, मुझे फिर जूआ खेलना पड़ेगा। वृद्ध राजा धृतराष्ट्र की आज्ञा से जुए के लिए यह बुलावा, हमारे कुल के विनाश का कारण है। यह जानते हुए भी मैं उनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता।”¹⁰

3. ... लोगों की तरह तरह की बातें सुनते हुए भी राजा युधिष्ठिर लज्जा के कारण तथा धृतराष्ट्र के आज्ञा पालन रूपी धर्म की दृष्टि से पुनः जूआ खेलने के लिए उद्यत हुए।”¹¹

जूआ खेलने बैठकर उन्होंने पिता की आज्ञा का पालन किया। फिर क्यों आवश्यक था कि वे अंत तक जूआ खेलते ही जाते; और अपना सर्वनाश करने के पश्चात् ही उठते? वे किसी भी समय वहां से उठ सकते थे। इस समस्या का समाधान खोजते हुए मेरा ध्यान विदुर के व्यवहार की ओर जाता है। वे पांडवों के सबसे बड़े हितू थे। वे द्यूत का भयंकर विरोध करते हैं। बार बार हाथ उठा कर धृतराष्ट्र से आग्रह करते हैं कि वे जूआ रोके; किंतु एक बार भी युधिष्ठिर से नहीं कहते कि “बहुत हुआ। पुत्र! द्यूत छोड़ कर उठ खड़ा हो।”

इसका अर्थ क्या है? स्पष्टतः द्यूत राजा की आज्ञा से आरंभ हुआ है और उसी से रोका अथवा समाप्त किया जा सकता है। धृतराष्ट्र की आज्ञा के बिना, युधिष्ठिर उठ नहीं सकते; और जूआ खेलते हुए उन्हें कुछ तो दाँव पर लगाना ही है। सारी प्रक्रिया में यह भी लगता है कि यह द्यूत द्वंद्वयुद्ध के समान अंत तक चलता है। द्वंद्वयुद्ध एक योद्धा की मृत्यु पर ही समाप्त होता है, उसी प्रकार यह द्यूत भी एक पक्ष के सर्वस्व हरण के पश्चात् ही समाप्त होगा। युधिष्ठिर अपनी जिस बाध्यता में खेल रहे हैं, वह स्पष्ट है। इसीलिए जब तक उनके पास किसी भी प्रकार का कोई धन शेष है, वे द्यूत छोड़ कर उठ नहीं सकते। शायद यही कारण है कि वे एक प्रकार की

शीघ्रता में हैं कि यदि वे जीत नहीं सकते तो शीघ्रातिशीघ्र सब कुछ हार जाएं। जूआ समाप्त हो और वे उठ सकें।

अपने जानते, सब कुछ हार कर वे रुक जाते हैं। अपने भाइयों और स्वयं अपने शरीर को वे पहले ही हार चुके हैं। जब युधिष्ठिर स्वयं को भी हार जाते हैं तो शकुनि उनसे कहता है, “राजन्! आप अपने को दौंव पर लगा कर जो हार गए यह आपके द्वारा बड़ा अधर्म कार्य हुआ। धन के शेष रहते हुए, अपने आपको हार जाना महान् पाप है। राजन्! आपकी प्रियतमा द्रौपदी एक ऐसा दौंव है, जिसे आप अभी तक नहीं हारे हैं; अतः कृष्णा को अब दौंव पर रखिए और उसके द्वारा फिर अपने को जीत लीजिए।”^{1 2} इसका अर्थ यह हुआ कि द्यूतक अपना कोई धन बचा कर रखना भी चाहे तो वह उसे बचा नहीं सकता। यह अधर्म है। इस तथ्य को ध्यान में रखें तो युधिष्ठिर की स्थिति समझ में आती है कि धर्म और मर्यादा के किन नियमों में बधे हुए जूआ खेल रहे थे। वे अपने मन में स्नेह और सौहार्द लेकर हस्तिनापुर आए थे। पांडवों और कौरवों में जो मनोमालिन्य था, वे उसे दूर करना चाहते थे। व्यास की चेतावनी उनके मन में थी और द्यूतक्रीड़ा में मतभेद हो जाने के कारण परस्पर मारपीट तथा हत्याएं इत्यादि हो जाना, कोई बड़ी बात नहीं थी। श्रीकृष्ण के बड़े भाई बलराम के द्वारा रुक्मी का वध इसका उदाहरण है। युधिष्ठिर नहीं चाहते होंगे कि द्यूत की मर्यादा का भंग करने का आरोप लगा कर, दुर्योधन और उसके साथी किसी प्रकार का उपद्रव कर सकें। उससे जिस स्नेह सौहार्द की खोज में वे आए थे, वह तो नष्ट हो ही जाए, क्षत्रियों के विनाश का एक कारण उपस्थित हो जाए और व्यास ने जिस विनाश की आशंका तेरह वर्षों के बाद जताई थी, वह उसी समय तत्काल उपस्थित हो जाए। यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि धर्मराज युधिष्ठिर जूए में भी धर्म का पालन कर रहे हैं और कपटी तथा छली शकुनि उनपर अधर्म का आरोप लगा रहा है। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप तत्काल युधिष्ठिर ने द्रौपदी को दौंव पर लगा दिया और हार कर धर्म रक्षा करते हुए वह कलंक अर्जित किया, जिसे समाज आज तक क्षमा नहीं कर पाया।

धर्मराज युधिष्ठिर का प्रत्येक कृत्य धर्म की रक्षा के लिए ही है। यदि वह जूआ नहीं खेलते तो पिताकी आज्ञा का पालन न होता, जो अधर्म था। निमंत्रण का तिरस्कार नहीं कर सकते, क्योंकि उससे पिता का तिरस्कार होता। पिता की आज्ञा का उल्लंघन होता। वे देख रहे थे कि दुर्योधन, धृतराष्ट्र और शकुनि ने उन्हें उन्हीं के धर्म के जाल में बांध दिया था; और उन्हें चारों ओर से घेर कर उनका आखेट कर रहे थे। फिर भी उनके मन में धर्म का उल्लंघन कर, शांति भंग कर बाहुबल से अपनी स्वतंत्रता को अर्जित करने अथवा अपने राज्य और धन की रक्षा करने का विचार नहीं आया।

पहला दौंव हारते ही युधिष्ठिर ने शकुनि से कहा, “शकुनि! शकुनि!! तुम ने

छल से इस दौंव में मुझे हरा दिया।”^{1 3} इसमें यह स्पष्ट नहीं किया गया कि शकुनि ने क्या छल किया है। महाभारत में इस प्रकार की अनेक बातों का स्पष्टीकरण नहीं है। मुझे लगता है कि उन परिस्थितियों का विश्लेषण किया जाए तो कुछ निष्कर्ष हमारे हाथ अवश्य लगते हैं। यदि युधिष्ठिर के हाथ दुर्योधन जूआ खेलता, तो बहुत संभव था कि इस क्रीड़ा से अनभिज्ञ, युधिष्ठिर की इतनी दुर्गति न होती, जितनी शकुनि के साथ खेलने पर हुई। इस पूरी क्रीड़ा में पांसे युधिष्ठिर के हाथ में आए ही नहीं। आरंभ से अंत तक शकुनि ही पांसे फेंकता रहा और युधिष्ठिर का धन जीतना रहा। दुर्योधन की ओर से शकुनि क्यों खेल रहा था और युधिष्ठिर की ओर से कोई दक्ष द्यूतकार क्यों नहीं बैठाया गया, इसका कोई स्पष्ट उत्तर महाभारत में उल्लिखित नहीं है। युधिष्ठिर इस प्रकार की कोई आपत्ति भी नहीं करते। संभव है कि उस समय ऐसी कोई परंपरा रही हो कि जैसे युद्ध में राजा की ओर से सेनापति लड़ता है, वैसे द्यूत में राजा की ओर से कोई दक्ष द्यूतक खेलता हो। किंतु युधिष्ठिर अपने साथ कोई चतुर खिलाड़ी नहीं लाए थे, क्योंकि वे द्यूतक्रीड़ा के लिए आए ही नहीं थे। वे तो अपने पिता के निमंत्रण पर एक पारिवारिक उत्सव अथवा सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए आए थे; और बाध्य किए जाने पर द्यूत में बैठे गए थे। शायद तब तक उनको यह अनुमान ही नहीं था कि धृतराष्ट्र द्यूत बंद करने का आदेश नहीं देंगे।

प्रत्येक दौंव से पहले युधिष्ठिर यह कहते हैं कि यह धन मेरा है और दौंव पर लगा कर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूं। यह उक्ति कम महत्वपूर्ण नहीं है। इसका अर्थ यह है कि जुआरी अपना धन ही दौंवों पर लगाए। न तो वह दूसरे के धन से जूआ खेल सकता है और न अपना धन शेष रहते जूए से उठ सकता है। इसीलिए जहां युधिष्ठिर को प्रत्येक दौंव से पहले एक प्रकार से शपथपूर्वक यह कहना पड़ता है कि यह धन मेरा है, वहीं शकुनि अपने धन से नहीं खेल रहा है और दुर्योधन भी युधिष्ठिर के दौंव के सम्मुख अपना कौन सा धन लगा रहा है, यह स्पष्ट नहीं करता। जब युधिष्ठिर यह कहते हैं, “इसके बदले में तुम्हारी ओर से कौन सा धन दौंव पर रखा जाता है, जिस धन के द्वारा तुम मेरे साथ खेलना चाहते हो?”^{1 4} तो दुर्योधन उत्तर देता है, “मेरे पास भी मणियां और बहुत सा धन है। मुझे अपने धन पर अहंकार नहीं है। आप इस जूए को जीतिए।”^{1 5} स्पष्टतः दुर्योधन तथा शकुनि कहीं भी स्पष्ट रूप से न तो नियमों का पालन करते हैं और न ही दौंव संबंधी स्पष्टता वहां दिखाई देती है। उनके सारे व्यवहार पर एक प्रकार का छलछंद छाया हुआ है। इस बात का स्पष्ट अवकाश वहां है कि यदि किन्हीं कारणों से उनका पक्ष हारने भी लगे तो वे अपना विशेष नुकसान नहीं होने देंगे। वे चातुर्य से युधिष्ठिर को लूट रहे थे और युधिष्ठिर अपने धर्म का पालन कर रहे थे।

यहां बार बार ध्यान इस बात की ओर जाता है कि जब अपने ही धन को दाँव पर लगा कर खेलना है तो धन की परिभाषा क्या है? युधिष्ठिर की ही उक्तियों से यदि निष्कर्ष निकाले जाएं तो राज्य की भूमि, धन, प्रजा, सेना, यहां तक कि अन्य पांडवों के शरीरों पर सुशोभित आभूषण - यह सब कुछ राजा का धन है, अर्थात् युधिष्ठिर का धन है। इसमें अपवाद केवल वह भूमि है, जो ब्राह्मणों को उनकी आजीविका स्वरूप दी गई है और प्रजा में भी केवल ब्राह्मण ही राजा का धन नहीं है। लगता है कि केवल बुद्धिजीवी - अध्ययन, अध्यापन अथवा साधना करने वाला वर्ग, तथा उनका धन राजा का धन नहीं है। वे लोग स्वतंत्र हैं। दूसरी ओर परिवार का मुखिया परिवार का स्वामी है। इसीलिए पत्नी, पुत्र, छोटे भाई और उनकी पत्नियाँ भी उनका धन हैं।

यही कारण है कि भीम जैसा क्रोधी और उदंड व्यक्ति, सब कुछ देखते और समझते हुए भी युधिष्ठिर का विरोध नहीं करता क्योंकि धर्मतः वह युधिष्ठिर का धन है। यदि वह विरोध करता है तो वह अपने धर्म का पालन नहीं करता है। इस सारे प्रसंग में जहां युधिष्ठिर ने अपने धर्म का पालन किया है, वहीं पांडवों और द्रौपदी ने युधिष्ठिर की नीति से विरोध होते हुए भी अपने धर्म को तिलांजलि कभी नहीं दी।

एकवस्त्रा रजस्वला द्रौपदी को दुःशासन केशों से पकड़ कर घसीटता हुआ सभा में लाता है तो भी द्रौपदी ने एकबार भी यह नहीं कहा कि युधिष्ठिर को उसे जूए में हारने का कोई अधिकार नहीं था। उसने अधिक से अधिक यही पूछा है कि युधिष्ठिर स्वयं को पहले हारे या द्रौपदी को। वह उसी सामाजिक धर्म के अंतर्गत रह कर, समाज द्वारा मान्य सारी मर्यादाओं के भीतर ही धर्म का विश्लेषण कर रही है। यदि युधिष्ठिर स्वयं को पहले हार गए, तो वे दुर्योधन के दास बन चुके थे। ऐसे में एक स्वतंत्र नारी - रानी अथवा राजकुमारी पर एक दास का कोई अधिकार नहीं रह जाता। यदि युधिष्ठिर स्वयं को पहले हार चुके थे तो द्रौपदी को दाँव पर लगाना धर्म नहीं था। शकुनि ने यह तो कहा कि अपना धन शेष रहते हुए युधिष्ठिर का स्वयं को हार जाना अधर्म का काम हुआ; किंतु यह नहीं कहा कि अब वह द्रौपदी को दांव पर नहीं लगा सकते। वरन् उसने युधिष्ठिर को उकसाया कि वे अब द्रौपदी को दाँव पर लगाएं और अधर्म का प्रतिकार करें।

भीष्म का संकट भी इसी प्रश्न को लेकर था। जिस प्रकार द्रौपदी यह नहीं कहती कि युधिष्ठिर को उसे दाँव पर लगाने का अधिकार नहीं था, उसी प्रकार भीष्म भी पत्नी को अपने पति के स्वामित्व से मुक्त नहीं मानते। इसीलिए युधिष्ठिर को जहां अपने भाइयों को दाँव पर लगाने का अधिकार था, क्योंकि वे उनका धन थे, वहीं उन्हें द्रौपदी को भी द्यूत में लगाने की बाध्यता थी; क्योंकि वह भी उनका धन थी। किंतु जिस समय युधिष्ठिर ने द्रौपदी को दाँव पर लगाया, उस समय युधिष्ठिर स्वयं स्वतंत्र

नहीं थे। जब द्रौपदी भीष्म से पूछती है कि धर्म क्या है? तो भीष्म स्पष्ट रूप से कोई उत्तर नहीं दे पाते। वे कहते हैं कि धर्म की गति अत्यंत सूक्ष्म है। पांडवों में इस समय सब से उग्र प्रतिक्रिया भीम की है, “भैया युधिष्ठिर ! जुआरियों के घर में प्रायः कुलटा स्त्रियां रहती हैं, किंतु वे भी उन्हें दाँव पर लगा कर जूआ नहीं खेलते। उन कुलटाओं के प्रति भी उनके हृदय में दया रहती है। काशिराज ने जो धन उपहार में दिया था, और भी जो उत्तम द्रव्य वे हमारे लिए लाए थे तथा अन्य राजाओं ने भी जो रत्न हमें भेंट किए थे सबको और हमारे वाहनों, वैभवों, कवचों, आयुधों, राज्य, आपके शरीर और हम सब भाइयों को भी, शत्रुओं ने जुए के दांव पर रखवा कर अपने अधिकार में कर लिया। किंतु इसके लिए मेरे मन में क्रोध नहीं हुआ; क्योंकि आप हमारे सर्वस्व के स्वामी हैं। पर द्रौपदी को जो दाँव पर लगाया गया, इसे मैं बहुत अनुचित मानता हूँ। वह भोली भाली अबला पांडवों को पति रूप में पा कर इस प्रकार अपमानित होने के योग्य नहीं थी। परंतु आपके कारण यह नीच, नृशंस और अजितेन्द्रिय कौरव इसे नाना प्रकार के कष्ट दे रहे हैं। राजन् ! द्रौपदी की इस दुर्दशा के लिए मैं आप पर ही अपना क्रोध छोड़ता हूँ। आपकी दोनों बाहें जला डालूंगा, सहदेव! आग ले आओ।”^{1 6} भीम ने चाहे अपना कितना क्रोध प्रकट किया हो, किंतु उसने एक बार भी यह नहीं कहा कि युधिष्ठिर को द्रौपदी को दाँव पर लगाने का अधिकार नहीं था। वह यह तो कहता है कि द्रौपदी को दाँव पर नहीं लगाना चाहिए था, क्योंकि द्रौपदी को कौरवों द्वारा दिया जा रहा कष्ट उससे देखा नहीं जाता। किंतु इसमें युधिष्ठिर के अधिकार को चुनौती कहीं भी नहीं दी गई है।

इस प्रकार यह सारा प्रसंग धर्म के प्रश्न को लेकर किया गया है। यह धर्म समाज मान्य अधिकारों और आचरण पर आधृत है। इस धर्म के अंतर्गत यह प्रश्न नहीं उठाया गया कि एक स्त्री के सार्वजनिक अपमान को देख कर वहां उपस्थित वीरों का धर्म उसके सम्मान की रक्षा करना था या नहीं। इसके ठीक विपरीत जब वन में जयद्रथ द्रौपदी का अपहरण करता है तो पांडव न केवल उससे युद्ध करते हैं, वरन् उसे हर प्रकार से पीड़ित करने के पश्चात् जीवित केवल इसलिए छोड़ देते हैं, कि वह उनकी बहन दुःशला का पति है। इस धर्म में अधिकांशतः सारा विचार - विमर्श तथा आचरण अधिकार और संपत्ति का लेकर ही है।

यदि द्रौपदी पत्नी होने के नाते युधिष्ठिर का धन है और धन के शेष रहते युधिष्ठिर द्यूत से उठ नहीं सकते, तो पत्नी को धन के रूप में द्यूत पर लगाना युधिष्ठिर की बाध्यता थी। इसी प्रकार हारे हुए धन पर दुर्योधन के अधिकार को न मानना अधर्म था। इसीलिए पांडव क्षमता और इच्छा होते हुए भी पत्नी अथवा अपने सम्मान की रक्षा के लिए शस्त्र नहीं उठाते। समाज द्वारा स्थिर किए गए नियमों को सामाजिक धर्म मानने वाले उस युग में एक श्रीकृष्ण ही इसके अपवाद दिखाई देते हैं। उनके लिए

यह महत्वपूर्ण नहीं है कि युधिष्ठिर ने पहले स्वयं को दौंव पर लगाया अथवा द्रौपदी को। उनके लिए महत्वपूर्ण तो यह है कि द्रौपदी का सार्वजनिक अपमान हुआ। शायद यह दृष्टिकोण था, जिसका विकास, उस समाज के रूप में हुआ, जहां पत्नी, संतान तथा छोटे भाई बहन अपने पिता, पति अथवा बड़े भाई की संपत्ति नहीं रह गए। कोई मनुष्य किसी अन्य मनुष्य का धन अथवा संपत्ति नहीं रहा। क्रमशः इसी से दास प्रथा भी समाप्त हुई और अब जब हम उस युग में जी रहे हैं, जहां हमें अपने पशु पर भी अत्याचार करने का अधिकार नहीं है, वहां किसी एक मनुष्य को दूसरे की संपत्ति कैसे माना जा सकता है। इसी संदर्भ में एक रोचक प्रश्न यह भी है कि चाहे किन्हीं कारणों से युधिष्ठिर ने द्रौपदी को हारे बिना स्वयं अपने आप को दौंव पर लगा दिया और अब यदि युधिष्ठिर के हार जाने के कारण अंतिम दौंव खेला जा चुका और दास बन जाने के कारण युधिष्ठिर घृतक्रीड़ा के लिए अयोग्य हो गए, तो यदि वे द्रौपदी को दौंव पर लगाने से इंकार कर देते, तो स्थिति क्या होती? युधिष्ठिर स्वयं को हारने के पश्चात् द्रौपदी पर दौंव न भी लगाते, तो भी द्रौपदी दासका धन होने के नाते दुर्योधन की दासी ही मानी जाती। संभवतः स्वयं को हार जाने के पश्चात् भी युधिष्ठिर ने द्रौपदी को इसीलिए दौंव पर लगाया कि उसे हारे बिना भी वे उसे बचा नहीं सकते थे। किंतु स्वयं दास होते हुए भी वे द्रौपदी को दौंव पर लगाते हैं तो एक नई स्थिति पैदा होती है। अंतमें जिस आधार पर द्रौपदी धर्म संबंधी शास्त्रार्थ करती है, उसका आधार युधिष्ठिर द्वारा सायास प्रस्तुत किया गया प्रतीत होता है। प्रश्न यह है कि यदि युधिष्ठिर स्वयं को हार चुके थे और द्रौपदी बच ही गई थी, तो उन्हें द्रौपदी को दौंव पर लगाने की क्या आवश्यकता थी। वे यह तर्क दे सकते थे कि एक दास को यह अधिकार नहीं है कि वह स्वतंत्र नागरिक को दौंव पर लगाए। फिर भी उन्होंने उसे दौंव पर लगाया। क्यों? यदि द्रौपदी को दौंव पर न लगाया गया होता, और दुर्योधन यह तर्क देता कि दास का धन स्वामी का धन है, इसलिए बिना दौंव पर लगे हुए भी द्रौपदी दुर्योधन का धन है। पांडवों की अन्य पत्नियों और उनके पुत्र भी इसी तर्क के अधीन दुर्योधन का धन मान लिए जा सकते थे। दास का धन होते हुए भी यदि द्रौपदी को दौंव पर लगाया गया और यह प्रस्ताव द्रौपदी को जीतने की आतुरता में, शकुनि की ओर से आया - तो इस का अर्थ स्पष्ट है कि पांडवों की अन्य पत्नियों और संतानों पर दुर्योधन को कोई अधिकार नहीं है। वे दौंव पर नहीं लगाए गए हैं। अपने आपको हारने के पश्चात् द्रौपदी को दौंव पर लगा कर युधिष्ठिर पांडवों की अन्य पत्नियों और संतानों को सुरक्षित कर लेते हैं। उनका यही दौंव द्रौपदी का भी कवच बन जाता है। यदि वह दौंव पर न लगी होती, तो वह दुर्योधन का धन मान ही ली गई होती। किंतु दौंव पर लगने के कारण यह तर्क उसके हाथ लगा कि दौंव पर लगे बिना वह कौरवों की दासी नहीं हो सकती। युधिष्ठिर स्वयं को हार चुके थे, इसलिए उन्हें उसे दौंव पर लगाने का कोई अधिकार नहीं था। इसी तर्क के आधार पर अंततः द्रौपदी की नहीं,

पांडवों की भी मुक्ति हुई। स्वयं को हार कर बिना हारे शेष बचे धन - द्रौपदी - को दौंव पर लगा देने का यह कृत्य, घृत की मर्यादा के भीतर एक सोची समझी चाल है, जिसने द्रौपदी और पांडवों की रक्षा की। उस पूरे घृत में एक यही दौंव था, जो शकुनि के विरुद्ध युधिष्ठिर जीत पाए। अन्यथा घृत तो वे हार ही चुके थे।

यह शास्त्रार्थ द्रौपदी ने केवल अपने तर्क के आधार पर ही नहीं जीता था। धृतराष्ट्र की सभा में दुर्योधन और उसके गुंडे मित्रों की उपस्थिति में कोई शास्त्रार्थ तर्क के आधार पर जीतना संभव ही नहीं था। इसके पीछे श्रीकृष्ण का शक्ति प्रदर्शन भी अत्यंत स्पष्ट है। श्रीकृष्ण मात्र तात्कालिक सामाजिक मान्यताओं को ही धर्म की सीमा मान कर नहीं चलते। वे धर्म की मानवीयता तक जाते हैं और तात्कालिकता तो उनके लिए कोई महत्व ही नहीं रखती। देश और काल उनके लिए कोई सीमा खड़ी नहीं करते। द्रौपदी के संदर्भ में भी उसके तर्कों तथा शास्त्र संबंधी उक्तियों को दुर्योधन अपने पशुबल से निरस्त कर ही चुका था। कुल वृद्धों के प्रति की गई धर्म और न्याय की गुहार भी कोई फल उत्पन्न नहीं कर पाई थी। भीष्म जैसे कुलवृद्ध धर्म की वैधानिक और लाक्षणिक सूक्ष्मताओं में उलझे हुए थे। उस समय द्रौपदी ने अपना महत्व जताते हुए एक प्रकार से चेतावनी दी थी कि उसके साथ न्याय न किया गया तो बाद में उनके लिए कठिनाइयां उत्पन्न हो सकती हैं। वह साधारण नारी नहीं है कि उसके साथ अन्याय कर वे अर्दंडित रह पाएंगे। अपना यही महत्व जताते हुए उसने कहा कि वह द्रुपद की पुत्री है, धृष्टद्युम्न की बहन है, पांडु की पुत्रवधू है, पांडवों की पत्नी है और श्रीकृष्ण की सखी है। उसके वस्त्र खींचते हुए दुःशासन पर उसके द्वारा उच्चरित किसी शब्द का, किसी नाम का कोई प्रभाव नहीं पड़ा; किंतु श्रीकृष्ण का नाम आते ही उसके हाथ शिथिल हो गए। उसकी ऊर्जा समाप्त हो गई। उसका मस्तक चक्कर खा गया और वह निःसंज्ञ होकर गिर पड़ा। मैं इसी को श्रीकृष्ण का शक्ति प्रदर्शन मानता हूं। दुःशासन ने इंद्रप्रस्थ की भरी सभा में सारे राजाओं की उपस्थिति में श्रीकृष्ण के सुदर्शन चक्र द्वारा शिशुपाल का वध होते देखा था। प्रतिशोध अथवा दंड की बात तो दूर, किसी ने श्रीकृष्ण के इस कृत्य पर आपत्ति भी नहीं की थी। दुःशासन को वही सुदर्शनचक्र अपनी सभा में भी मंडराता दिखाई दिया था। द्रौपदी के यह कहने पर कि वह श्रीकृष्ण की सखी है, दुःशासन की समझ में यह बात आ गई थी कि धर्म के प्रावधान, सामाजिक मान्यता तथा घृत की मर्यादा की आड़ में वे लोग, कोई भी अत्याचार कर पांडवों से तो अपनी रक्षा कर सकते हैं; किंतु श्रीकृष्ण से उन्हें कोई नहीं बचा सकता। अपने सम्मुख काल को देख कर ही दुःशासन के हाथ कापे थे और सिर चकरा गया था। इसी स्थल पर श्रीकृष्ण के संबंध में एक और बात रेखांकित होती है - वे नारी के अपमान को किन्हीं भी परिस्थितियों में सहन नहीं कर सकते थे। पांडवों की सभा में जब शिशुपाल ने रुक्मिणी के विषय में अनर्गल प्रलाप

आरंभ किया था, तो उनका सुदर्शन चक्र चला था और कौरवों की अपनी सभा में भी द्रौपदी के अपमान के समय ही श्रीकृष्ण का सुदर्शन चक्र प्रकट हुआ था।

सन्दर्भ

1. महाभारत के अनुसार उस भवन का नाम, जिस में द्यूत खेला गया।
2. 10/58, सभापर्व।
3. 16/58, सभापर्व।
4. 5/59, सभापर्व।
5. 53.79, वनपर्व,
6. 4/144, आदिपर्व।
7. 15/58, सभापर्व।
8. 1/76, सभापर्व।
9. 2/76, सभापर्व।
10. 3.4/76, सभापर्व।
11. 18/76, सभापर्व।
12. 30.32/65, सभापर्व।
13. 1/61, सभापर्व।
14. एतद् राजन् ममं धनं प्रतिपाणोअस्ति कस्तव। येष मां त्वं महाराज धनेन प्रतिदीव्यये ॥
7/60, सभापर्व।
15. सन्ति मे मणयश्चैव धनानि सुवहूनि च। मत्सरश्च न मे अर्थेषु जयस्वैनं दुरोदरम ॥
8/60, सभापर्व।
16. 1-6/68, सभापर्व।

With Best Compliments
from
VASUNDHARA IMPEX (P) LTD.

Administrative Office
LG-69, World Trade Centre,
Babar Lane, New Delhi-110001

Regd. Office
1/3575, Netaji Subhah Marg, Darya Ganj,
New Delhi-110002 ❖ Phone Off. 3277883, 3711848

बीते वर्षों की कहानी

शंकर शरण*

राज थापर (1926-1987) जैसी अदभुत हस्ती को जानने का सबसे सुन्दर रास्ता है उनकी पुस्तक 'ऑल दीज इयर्स'¹। यह उनके निधन के बाद उनकी डायरी से संकलित करके प्रकाशित की गई। 1943 से लेकर 1984 तक के चार दशकों तक सक्रिय एक सहृदय बौद्धिक-राजनीतिक हस्ती के विपुल अनुभवों से भरी यह एक बेशकीमती पाठ्य-सामग्री है। इसकी शैली साहित्यिक, जीवन्त और निष्कपट होने से इसे पढ़ने में एक अतिरिक्त आनन्द की अनुभूति होती है। किन्तु इससे अनायास ही भारतीय मार्क्सवाद, कम्युनिस्ट नेता व बुद्धिजीवी और स्वतन्त्रता के बाद कांग्रेसी शासन की अन्तरंग तस्वीर देखने के लिए भी मिलती है। समकालीन भारतीय राजनीति, और कई जगह सोवियत तथा अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट राजनीति की विशेषताओं से भी प्रत्यक्ष परिचय होता है। इन बहुमूल्य जानकारियों के साथ-साथ राज थापर के अनूठे व्यक्तित्व से भेंट एक अतिरिक्त उपलब्धि है। इस पुस्तक को पढ़ना वास्तव में कई दशकों की राजनीतिक-सामाजिक यात्रा का स्वयं अनुभव करने के समान है।

राज और उनके पति रोमेश थापर (1922-1987) राजनीतिक और बौद्धिक जगत में एक अनोखे दम्पति थे। समृद्ध पृष्ठभूमि, प्रभावशाली पंजाबी खानदान, कम्युनिस्ट पार्टी के सर्वोच्च स्तर पर कई बरस तक अथक सक्रियता, जाने-माने विदेशी कम्युनिस्टों से संसर्ग, कला में गहरी रुचि, फिल्म और नाटक में काम, पत्रकारिता में अभिनव प्रयोग, इन्दिरा गाँधी के प्रधान मन्त्रित्व के आरम्भिक कई सालों तक उनके मित्र और निकट सलाहकार, उस दौर में देश के नीति-निर्माण में महत्वपूर्ण दखल, सामाजिक, बौद्धिक जीवन के कई क्षेत्रों में काम, तथा ईमानदार, खरा, निःस्वार्थ, मददगार व्यक्तित्व इन सभी गुणों, विशेषताओं वाले कितने व्यक्ति ध्यान में आते हैं? *ऑल दीज इयर्स* पढ़कर बरबस अफसोस होता है कि काल ने राज थापर को असमय छीन लिया। जब उनकी महत्वाकांक्षी पत्रिका *सेमिनार*, जिसे वे लाड़ से अपनी 'तीसरी सन्तान' कहती थीं, वास्तव में सब मतावलम्बियों का मंच बन

* डॉ. शंकर शरण राष्ट्रीय शैक्षिक शोध एवं प्रशिक्षण परिषद्, नई दिल्ली में राजनीति विज्ञान के प्राध्यापक हैं।

सकती, जो उसकी मूल कल्पना² थी, तभी कैंसर ने उनकी इहलीला समाप्त कर दी। *सेमिनार* 'एक ही कवर के अन्दर सभी विचारों को स्थान देने' के उद्देश्य से 1959 में जन्मा, किन्तु अपने सर्जकों के मार्क्सवादी अन्धविश्वास से बने कुछ आग्रहों से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाया था।

ऑल दीज इयर्स से पता चलता है कि राज उन आग्रहों, अवशेषों से एक-एक कर मुक्त होती गई थीं। वह और रोमेश 1945-52 के बीच बम्बई में कम्युनिस्ट पार्टी के मुख्यालय के साथ जुड़े अत्यन्त सक्रिय कार्यकर्ताओं में रहे थे। बाद में भी उनकी पार्टी से सहानुभूति बनी रही थी। उन्होंने राष्ट्रीय जीवन के इतिहास के एक गम्भीर दौर में हिस्सा लिया था। अनगिनत इतिहास पुरुषों के सम्पर्क में वे आए, और अपना हिस्सा निभाया। इस बीच विदेश यात्राओं में उन्होंने समाजवादी देशों के जीवन और शासन-पद्धति की झलक भी देखी। ब्रिटिश और सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की सैद्धान्तिक, व्यवहारिक स्थिति का भी उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव था। इन तमाम अनुभवों के बीच उन्होंने अपनी बौद्धिक, भावनात्मक ईमानदारी, मानवीयता और सहज बुद्धि-विवेक को कभी नहीं छोड़ा था। इसी का परिणाम था कि राज और रोमेश उन विराट अन्तर्विरोधों व मिथ्याचार को दरकिनार नहीं कर सके जो देश-विदेश में मार्क्सवादी परिकल्पना, मतवादी घोषणाओं और सम्बन्धित पार्टियों, नेताओं के वास्तविक व्यवहार व चरित्र में प्रायः अनायास दिखती थीं। समय के साथ थापर दम्पति अपने ज्ञान और विपुल अनुभवों से उन निष्कर्षों की ओर बढ़े जो उनसे सहज निःसृत होते थे, किन्तु जिसे आम कम्युनिस्ट अपने अन्धविश्वास के बल पर सायास दूर रखता है। 1956 में सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की बीसवीं काँग्रेस में सोवियत नेता खुशेव की गोपन रिपोर्ट के प्रकाशन के बाद थापर दम्पति को अपने वैचारिक-कम्युनिस्ट सम्मोहन टूटने का और भी स्पष्ट अहसास हुआ था।

किन्तु मार्क्सवादी अन्धविश्वास और तज्जनित सक्रियता से बने वामपन्थी दुराग्रह एक ऐसी चीज थे जिससे थापर दम्पति पूरी तरह अन्त तक मुक्त नहीं हो सके थे। उदाहरण के लिए धर्म, साम्प्रदायिकता, इस्लाम, हिन्दुत्व, भारतीय समाज की चेतना, इतिहास आदि ऐसे गम्भीर विषय थे जिन पर थापर दम्पति ने स्वयं न तो अध्ययन किया था, न अपने जीवन में इनका उन्हें कोई अनुभवसिद्ध ज्ञान ही हो पाया था। इसीलिए, अनजाने ही इन बिन्दुओं पर उनके विचारों में उन दुराग्रहों का असर था जो कम्युनिस्ट वैचारिकता के दौर में उनमें जम गए थे। *ऑल दीज इयर्स* में ऐसे कई स्थल हैं जिससे दिखता है कि राज थापर को अपने अवलोकन और अनुभव से इन बिन्दुओं पर बीच-बीच में उलझन होती थी और शंका होती थी कि वे जो अब तक समझते रहे क्या वह सही था? दुर्भाग्य से काल ने उन्हें और अवसर नहीं दिया कि इन बिन्दुओं पर वे अपने भ्रमों से मुक्त हो सकें।

कम्युनिस्ट सिद्धान्त व नेतागण, इन्दिरा गाँधी, समाजवादी कार्यक्रम, मार्क्सवादी

विद्वान्, नीति-निर्माताओं के रूप में चापलूस और धन्धेबाज आदि सबका छिपा यथार्थ रोमेश से पहले सदैव राज ने महसूस किया था। इसीलिए यह अतिरिक्त दुःख का विषय है कि जब वे भारतीय समाज और राजनीति के बारे में सभी दुराग्रहों से मुक्त हो सकने की स्थिति में थीं, तभी कैंसर ने उन्हें दबोच लिया। अन्यथा आज बौद्धिक विचार-विमर्श में *सेमिनार* की भूमिका सम्भवतः कुछ और हो सकती थी। बल्कि वही हो सकती थी जिस परिकल्पना से उसे शुरू तो किया गया था, किन्तु जिस तक वह वास्तव में कम ही पहुँच पाता था। इस पर वामपन्थी, यूरोपीय, उच्च-वर्गीय और अंग्रेजी आग्रहों की छाया सदैव पड़ी रही, जिससे *सेमिनार* के लेखों, उसकी प्रस्तुतियों में किसी विषय का सम्पूर्ण यथार्थ हमेशा नहीं आ पाता था। इसके अंकों में मार्क्सवादी, सेक्यूलरवादी और देश की जनता से वास्तव में दूर, किन्तु मताग्रही लेखकों का बोलबाला एक बड़ी कमजोरी थी जिससे सच्चाई का एक महत्वपूर्ण पक्ष अक्सर सामने आने से रह जाता था। राज थापर के ईमानदार, साहसी, विकासशील विवेक के आधार पर यह आशा की जा सकती थी कि समय के साथ यह कमजोरी दूर होती। उनके असमय निधन से वह हो नहीं पाया। अतः आज भी *सेमिनार* के पन्नों में 'वामपन्थ-हमेशा-बेहतर' का हानिकारक भ्रम छाया हुआ मिलता है। इससे एक छोटे से बौद्धिक वर्ग को आत्म-सन्तोष और कुछ राजनीतिक धाराओं को लाभ तो होता है, किन्तु 'सभी विचारों की इकट्टी प्रस्तुति' का काम कभी नहीं हो पाता, जिससे पाठक को सचमुच किसी विषय के तत्व-बोध तक पहुँचने का अवसर मिल सके।

यदि राज आज जीवित होते तो उनकी 'तीसरी सन्तान' का चरित्र वास्तव में और उदार व समदर्शी होता, यह मानने का आधार है। *ऑल दीज इयर्स* से पता चलता है कि आरम्भ से ही हर घटना, व्यक्ति, परिस्थिति आदि में छिपी सच्चाई को राज ही पहचानना शुरू करती थीं। पति, पत्नी दोनों खुले मस्तिष्क के और सहज विश्वासी थे। किन्तु रोमेश के अवलोकन और विश्वासों में किसी बिन्दु या व्यक्ति के बारे में भोलापन, एकपक्षीय विश्वास अधिक टिकाऊ प्रतीत होता था। राज अपने अवलोकन एवं सहज, निष्कपट बुद्धि से घटनाओं, व्यक्तियों, परिस्थितियों के अन्तर्विरोध को पहले देख लेती थीं जो रोमेश अपनी सरलता में देर से देख पाते थे। यह राज की अतिरिक्त विशेषता थी कि फिर भी वे उन अन्तर्विरोधों, शंकाओं से निष्कर्ष निकालने की जल्दबाजी नहीं करती थीं। बल्कि वैसी दिख गई शंका को मस्तिष्क के किसी कोने में रख छोड़ती थीं। उसके सम्बन्ध में और जानकारी, अवलोकन, अनुभवों से उसकी स्वतः पुष्टि या खण्डन हो जाने का पूरा मौका देती थीं। तब जाकर उसके बारे में अपनी पक्की धारणा बनाती थीं जो प्रायः सही होती थी। इस प्रक्रिया में रोमेश पीछे थे। वे तब भी व्यक्तियों, परिस्थितियों के बारे में भ्रामक विचारों में रहते थे, जबकि

उन्हें कई बार ठोकर लग चुकी हो। कहा जा सकता है कि रोमेश के विचारों, योजनाओं, निष्कर्षों को सुधारने का काम जाने-अनजाने राज ने ही किया था⁴। प्रख्यात समाजशास्त्री आशीष नन्दी ने लिखा है कि वास्तव में *सेमिनार* राज की आवाज था, यद्यपि लोग उसे केवल रोमेश की समझते थे।

ऑल दीज इयर्स की यात्रा से सबसे पहले तो भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के बारे में अनगिनत छिपी सच्चाइयों का पता चलता है। जैसे इस बात का कि आरम्भ से ही इसके नेता और बुद्धिजीवी कितने बड़े अन्धविश्वासी थे। थापर दम्पति ने पी. सी. जोशी, बी.टी. रणदिवे, श्रीपाद अमृत डांगे, अजय घोष, लिट्टो घोष, मोहन कुमार मंगलम, रोमेश चन्द्र, पेरीन रोमेश चन्द्र, मुल्क राज आनन्द, सज्जाद जहीर और इन सबके सबसे बड़े मार्गदर्शक ब्रिटिश कम्युनिस्ट रजनी पामदत्त के साथ लम्बे समय तक काम किया था। इनके साथ लम्बी-लम्बी बातचीत, बहस, कार्यक्रम बनाना, काम करना और सम्पर्क। इन सब लोगों की विशेषताओं, काम, चरित्र और खूबियों-खामियों की जीवन्त तस्वीर इस पुस्तक में मिलती है। यही लगता है कि सबके सब बड़ी साधारण बुद्धि, उपलब्धि और विचारों में अन्धविश्वासी किस्म के लोग थे। जोशी (और पामदत्त) को छोड़कर किसी की काम के प्रति ईमानदारी और वैयक्तिक चरित्र भी उनके प्रति आदर नहीं पैदा करता। अधिकांश नेता तमाम क्षुद्र कमजोरियों/ईर्ष्या, लोभ, झूठ, कपट आदि से भरे लोग थे। ज्यादातर तो अपने अस्तित्व में भारतीय भी नहीं थे। उनके विचार, समझ, रुचियाँ सब कुछ यूरोपीय थीं⁴। ऊपर से देश और समाज के बारे में भारी अज्ञान। अन्धविश्वास और अज्ञान से भरे इन कम्युनिस्ट नेताओं, बुद्धिजीवियों ने देश को कितनी भयंकर हानि पहुँचाई, यह इस पुस्तक से सहज ही दिख सकता है। वे दिन-रात 'जनता' और 'मजदूर-किसान वर्ग' की बात करते थे, किन्तु किसी को जनता या मजदूर-किसानों की स्थिति का न तो पता था, न ही चिन्ता थी। बम्बई के बड़े-बड़े मार्क्सवादी बुद्धिजीवी धनी-मानी लोग थे, विदेशी कम्पनियों में मालदार पदों पर काम करते थे और कम्युनिज्म के पक्ष में बहस करते थे। राज थापर को तब भी यह बात अन्तर्विरोधी लगती थी⁵।

कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं का अन्तर्विरोध और अज्ञान उन बुद्धिजीवियों से कम नहीं था। बम्बई ही तब भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का मुख्यालय था। इसके नेताओं ने देश और दुनिया शायद ही देखी थी। सबके सब अपनी कल्पना में ही सामाजिक-आर्थिक शोषण, क्रान्तिकारी परिस्थिति, वर्गीय संघर्ष का नक्शा बनाते रहते थे! उसी आधार पर कम्युनिस्ट पार्टी ने 1943 में मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की माँग का जबर्दस्त सैद्धान्तिक, व्यवहारिक समर्थन किया। राज थापर तब बमुश्किल उन्नीस वर्ष की थीं जब उन्हें कम्युनिस्ट नेताओं का पाकिस्तान-परस्त रुख समझ से परे लगता था। वह जानती थीं कि मार्क्सवाद मजहब विरोधी है। इसीलिए यह सारे मार्क्सवादी ठीक मजहब (इस्लाम) के ही आधार पर भारत विभाजन के लिए क्यों उत्साह में हैं,

उन्हें विचित्र और सरासर गलत लगता था। उस समय मोहन (कुमार मंगलम) बड़े बौद्धिक, निष्ठावान, समर्पित कम्युनिस्ट समझे जाते थे। उनसे इस विषय पर बहस करते हुए राज का मन होता था कि सब चीजें उठाकर उन पर दे मारें! यह 1945-46 की बात है। वे लिखती हैं,

मेरे जबड़े दुःखने लगते थे जब मैं पंजाबी होने का अर्थ समझाती। हिन्दू, सिख और मुस्लिमों की साझी भाषा और संस्कृति के बारे में बोलती। मैं आज तक नहीं समझ सकी कि पाकिस्तान के विचार के कम्युनिस्ट समर्थन के पीछे क्या था, किस निहित स्वार्थ ने उन्हें जकड़ लिया था कि उन्होंने अपने कार्यकर्ताओं, अपनी ऊर्जा को उसके समर्थन में बर्बाद किया जो स्पष्टतः हमारे राजनीतिक जीवन की सबसे प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति थी। और उन सब लोगों में मोहन, जिसे मैं तब समझती थी कि उसने मार्क्सवाद के सभी मूल लेखन को चाट लिया है, कैसे वह जिन्ना को वह ढेर सारे बौद्धिक तर्क और समर्थन मुहैया करा सकता था जिसकी उसे सख्त जरूरत थी?*

बाद में जब देश का विभाजन तय हो गया, और पंजाब तथा दूसरी जगहों पर दंगे भड़क उठे थे, तब कम्युनिस्ट नेता डांगे एक दिन थापर दम्पति के घर आए। यह 1946-47 की बात है, जब थापर लन्दन में रह रहे थे। राज ने उनसे अपना दुःख व्यक्त किया कि हजारों-हजार लोगों का जीवन नष्ट हो रहा है, बदले और विकृति की आग में तबाह हो रहा है। तब उस प्रसिद्ध कम्युनिस्ट नेता ने कहा, “चिन्ता मत करो, राज। हमारे लोगों को खून का स्वाद लेने दो, उन्हें सीखने दो कि खून कैसे बहाया जाता है। इससे क्रान्ति नजदीक आएगी।”⁷ राज आगे लिखती हैं, “मैं तब काँप उठी थी, किन्तु आज उसके बारे में सोचते हुए मैं और भी काँप जाती हूँ। कितनी भी बहस के बाद भी उसका (डांगे का) विश्वास नहीं डिगा था। मैं तब नहीं समझ पाई थी कि साधन और साध्य कितनी नजदीकी से जुड़े होते हैं।”

इसी प्रकार बी.टी. रणदिवे के नेतृत्व में कम्युनिस्ट पार्टी ने 22 फरवरी 1949 को पूरे भारत में सत्ता पर अधिकार कर लेने की योजना बनाई थी। तब कम्युनिस्ट नेता और बुद्धिजीवी इस बात पर एकमत थे कि देश की जनता समाजवादी क्रान्ति के लिए तड़प रही है। जनता केवल एक आह्वान भर का इन्तजार कर रही है, जब वह अपने ऊपर ‘देश की शोषक बुर्जुआ सत्ता और उसके विदेशी आकाओं के जुए’ को उतार फेंके। यही आकलन करके रणदिवे नेतृत्व ने भारत में ‘क्रान्ति’ की तारीख पक्की कर दी। देश में सत्ता पर अधिकार कर लेने की योजना बन गई। बम्बई में किसे क्या करना था, यह अक्टूबर 1917 में सेण्ट पीटर्सबर्ग में बोल्शेविक तख्तापलट की नकल पर निश्चित कर लिया गया। रोमेश थापर को भी सुबह-सवेरे उठकर अपने

घर से सामने हैंगिंग गार्डन में सबसे ऊपर चढ़कर बैठ जाना था। गुप्त संकेत देखते ही उन्हें फौरन जाकर रेडियो स्टेशन पर कब्जा कर लेने का भार दिया गया था। राज थापर ने इस ‘क्रान्ति’ के दिन बम्बई के कम्युनिस्टों को पार्टी नेतृत्व द्वारा दिए गए काम के किस्से का दिलचस्प वर्णन किया है⁸। यह सब कितना हास्यास्पद था, पूरी परिकल्पना कितनी बचकानी थी, कम्युनिस्ट नेतागण वास्तविक जीवन से कितने दूर और परम मूर्ख थेयह सब केवल कल्पना की ही चीज है। क्योंकि पूरे देश में क्या-क्या हुआ, और इसके नतीजे में कम्युनिस्टों, उनके समर्थकों और उनके प्रभाव क्षेत्र के आम लोगों को क्या-क्या झेलना पड़ा इसका कहीं विवरण नहीं मिलता।

कम्युनिस्ट परम्परा में सभी असुविधाजनक, अपराधपूर्ण और शर्मनाक इतिहास को पूरी तरह गुम कर दिया जाता है। वही पाकिस्तान बनाने के उत्साहपूर्ण समर्थन तथा भारत में ‘क्रान्ति’ के इस ऐतिहासिक एडवेंचर के साथ भी हुआ। इसीलिए 1943-47 के बीच पाकिस्तान की माँग के समर्थन में चले सक्रिय कम्युनिस्ट आन्दोलन या 1949 में देश में कम्युनिस्ट तख्तापलट के प्रयास जैसे अनगिनत अध्यायों पर हमारी कम्युनिस्ट पार्टियों और उनके सहगामी मार्क्सवादी इतिहासकारों ने भारी पर्दा डाल रखा है। यह इसलिए आसानी से हो गया क्योंकि बाद में, इन्दिरा गाँधी के दौर में कम्युनिस्टों ने ‘ऊपर से समाजवाद बनाने’ की योजना भी बनाई थी। इसके अंग के रूप में केन्द्रीय शैक्षिक अकादमियों पर कब्जा किया गया। उसी के साथ इतिहास का व्यापक, घोर मिथ्याकरण भी कर डाला गया। राज थापर ने इसका भी उल्लेख किया है⁹। तब से इतिहास अकादमियों पर जो मार्क्सवादी कब्जा बना, वह आज तक कमो-बेश चल रहा है। इसीलिए कम्युनिस्ट इतिहास की बड़ी-बड़ी घटनाएँ भी हमारा शिक्षित वर्ग नहीं जानता। आम जनता की कौन कहे। संयोगवश राज थापर के संस्मरणों से हमें ऐसी बहुत सी बातों का अनायास पता चलता है।

इस पुस्तक में अनगिनत प्रसंग हैं जिससे भारत के कम्युनिस्ट नेताओं और मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों की मूर्खता, क्षुद्रता आदि का पता चलता है। यह भी कि यह सब उनकी निजी कमजोरियाँ नहीं, बल्कि उस विचारधारा की अनिवार्य परिणति थी जिसकी बन्द, कठोर, संकीर्ण लीक पर वे सब चलते थे। ये मूर्खताएँ, कपट और मिथ्याचार केवल भारतीय कम्युनिस्टों की विशेषता नहीं थी। बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कम्युनिस्ट पार्टियों की आम बीमारी थी। इस सन्दर्भ में एक मार्मिक प्रसंग वह है जिसमें स्वयं रजनी पामदत्त ने थापर दम्पति के भोलेपन, ईमानदारी और समर्पण को देखते हुए इन्हें कम्युनिस्ट पार्टी से ‘बचाया’ था! राज और रोमेश कम्युनिस्ट पार्टी के लिए बरसों से काम कर रहे थे। वे इसे जनता की सेवा, भाईचारा और साथीपन का अपरिहार्य सम्बन्ध समझते थे। इसीलिए इसके सदस्य बनकर और भी समर्पित रूप से इसके लिए काम करना चाहते थे। लेकिन रजनी पामदत्त ने बड़ी चिन्ता और आग्रह

से राज थापर को रोका, “नहीं, नहीं, ऐसा मत करना। तुम्हारे और रोमेश के लिए पार्टी सही जगह नहीं है। बस तुम दोनों जो कर रहे हो, करते रहो, तुम जो भी चाहते हो करो, मगर पार्टी नहीं।¹⁰” (यह 1950 के उत्तरार्ध की बात है) सम्भवतः अनुभवी पामदत्त जानते थे कि ऐसे भोले, सज्जन और निष्ठावान कार्यकर्ताओं का पार्टी में क्या हाल होगा।

केवल कम्युनिस्ट पार्टी और मार्क्सवादी बौद्धिकता के विवरण ही इस पुस्तक की विशेषता नहीं हैं। भारतीय राजनीति के वृहत प्रसंगों के भी इसमें रोचक वर्णन हैं। नेहरू जी के प्रति कम्युनिस्टों का रवैया, नेहरू की चीन के प्रति भयंकर भूल, अपने ही समाज के प्रति नेहरू का अज्ञान, इस्लामी देशों के राजदूतों का भारत के प्रति अहंकारी रुख, कांग्रेस नेताओं का चरित्र, इन्दिरा गाँधी के प्रधान मन्त्रित्व काल में नीति-निर्धारण और देश की दशा-दिशा का उससे गहरे प्रभावित होना आदि उतने ही दिलचस्प अध्याय हैं। उदाहरण के लिए, 1962 के बाद नेहरू एकदम दयनीय हो गए थे, और राज जैसे उनके प्रशंसक भी ‘उनकी मृत्यु का इन्तजार ही कर रहे थे।’ वी. के. कृष्ण मेनन स्वयं को सदैव भावी प्रधान मन्त्री से कम नहीं देखते थे। इन्दिरा गाँधी सदैव इससे सशक्त रहती थीं कि उनकी वास्तविक योग्यता से लोग परिचित न हो जाएँ। इसीलिए वह किसी से घुलती-मिलती नहीं थीं। नजदीकी लोगों से भी विचित्र किस्म की दूरी रखने, अपनी अटपटी हरकतों से उन्हें औकात दिखाने की कोशिशें करती रहती थीं। वी.पी. सिंह ने पहली बार कांग्रेस का टिकट लेने के लिए एक अरब देश के राजदूत के माध्यम से नेतृत्व तक सिफारिश पहुँचाई थी। कम्युनिस्ट नेताओं में अनेक राजनीतिक ‘माफिया’ या सोवियत एजेंट की तरह काम करते थे। तथाकथित शान्ति आन्दोलन सोवियत नेताओं द्वारा किया गया एक छल था। इससे एक ओर दुनिया भर के असंख्य बुद्धिजीवियों को बेवकूफ बनाया जाता था, दूसरी तरफ हर देश में कुछ कम्युनिस्ट नेता सम्पन्न ‘अन्तर्राष्ट्रीय सोवियत नौकरशाह’ में बदल जाते थे। भारत में रोमेशचन्द्र और पेरिन इसके उत्कृष्ट उदाहरण थे। कदाचित छल, षड्यन्त्र और गोपनीयता दुनिया भर में कम्युनिस्ट पार्टियों की कार्यशैली के जरूरी अंग ही थे। दिल्ली में सोवियत दूतावास पैसे से नेताओं, पत्रकारों को खरीदने का काम नियमित रूप से करता था। स्वयं रोमेश थापर को भी प्रत्यक्ष खरीदने का प्रयास हुआ। जब थापर को इस प्रस्ताव मात्र से गुस्सा आया, तो सोवियत प्रतिनिधि ने समझा कि इन्हें अमरीकियों ने पहले ही खरीद लिया है! राज थापर की पुस्तक के ऐसे प्रसंग हमारे समकालीन इतिहास के वैसे अध्याय हैं जो शायद ही कहीं और मिलते हैं।

लाल बहादुर शास्त्री के मन्त्रिमण्डल में इन्दिरा गाँधी सूचना एवं प्रसारण मन्त्री थीं। वह शास्त्री जी को कुछ नहीं समझती थी, और अक्सर मनमानी करती रहती थीं। इसी बीच थापर दम्पति इन्दिरा जी की ओर आकृष्ट हुए। एक बार फिर उनकी

वामपन्थी आशाएँ जग उठीं। यह 1965 की बात है। उन्हें लगा कि इन्दिरा के सहारे सरकार की नीतियों को प्रगतिशील, समाजवादी आदि बनाया जा सकता है। युवा और अनुभवहीन इन्दिरा को भी रोमेश जैसे प्रबुद्ध, दबंग और सक्रिय सहयोगी की बड़ी जरूरत थी। रोमेश इन्दिरा गाँधी को तरह-तरह के सुझाव देने लगे, जिसका इन्दिरा जी अक्सर उपयोग भी करती थीं। नेहरू जी के नाम पर दिल्ली में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की स्थापना भी रोमेश के सुझाए गए कामों में से ही एक था। थापर दम्पति इन्दिरा जी के करीब होते गए। जब शास्त्री जी के असामयिक निधन के बाद इन्दिरा गाँधी प्रधान मन्त्री बनी, तब थापर के आनन्द और आशाओं का ठिकाना न रहा। (शास्त्री की मृत्यु की खबर आते ही कैसे आधी रात में कृष्ण मेनन ने रोमेश को फोन करके अपने अगले कदम के बारे में सलाह माँगी, वह भी मार्क्सवादी काल्पनिक मानसिकता का एक दुर्लभ प्रसंग है। मेनन एकदम मानकर चल रहे थे कि अब उन्हें ही प्रधान मन्त्री बनना है, केवल औपचारिकता शेष है!¹¹) राज लिखती हैं कि जब इन्दिरा गाँधी का प्रधान मन्त्री बनना तय होने की खबर आई तो उन्होंने अपनी ननद रोमिला थापर (इतिहासकार) के साथ ब्रैंडी की बोतल खाली करके उत्सव मनाया था।¹² बल्कि उसी समय मोहित सेन भी इनके घर पहुँचे थे, और इन लोगों की भरपूर खुशी देखकर कुछ उलझन में पड़ गए थे।

मगर वास्तव में राज और रोमेश थापर में इन्दिरा गाँधी से भरपूर आशा जग गई थी। जैसा राज ने उस दिन डांगे को कहा भी, “अब हम बहुत कुछ कर सकते हैं।” यह आशा कितनी बड़ी थी यह इसी से स्पष्ट है कि राज की पुस्तक में पन्द्रहवें अध्याय का शीर्षक ही है, ‘तुम्हारा राज्य आ गया’ (दाय किंगडम केम)। इन्दिरा जी के प्रधान मन्त्री बनने की खबर पर रोमेश को उनके एक वामपन्थी बुद्धिजीवी मित्र ने तार में यही शब्द लिख भेजे थे। इन्दिरा गाँधी से थापर दम्पति की नजदीकी देखते हुए बात बहुत हद तक ठीक थी। जल्द ही सबको दिखने लगा कि रोमेश थापर इन्दिरा गाँधी की ‘किचन कैबिनेट’ के सबसे प्रभावशाली सदस्य थे। सरकार की नीतियाँ ही नहीं, केन्द्रीय मन्त्रियों की नियुक्ति में भी उनकी राय और अनुशंसा प्रभावी होती थी। दोनों परिवारों की निकटता इतनी थी कि इन्दिरा जी के दूसरे बेटे संजय और थापर दम्पति की बेटी मालविका में भी नजदीकी बनने लगी (जिसके दूर होने के बाद में राज ने राहत की साँस ली)। इस दौर में कितने ही पूर्व-कम्युनिस्टों, मार्क्सवादी कार्यकर्ताओं ने थापर दम्पति की सहायता से अकादमियों, आयोगों, प्रोफेसरों का पद प्राप्त किया। अनेक पुराने, बेरोजगार मार्क्सवादी रोमेश थापर के कन्धों पर चढ़कर उच्च-पदों पर आ गए। राज थापर ने लिखा है, “हम उनकी सीढ़ियाँ थे।”¹³ यह और बात है कि जल्द ही थापर दम्पति को अपने भ्रम का अहसास होने लगा था। सबके सब मतलबी और सत्ता-लिप्सा से चालित लोग थे। सचमुच समाज-सेवा की भावना शायद ही किसी

में थी।

वस्तुतः कम्युनिस्ट सिद्धान्त-व्यवहार की सच्चाई को 1945-65 के लम्बे अन्तराल में बार-बार देखकर भी राज और रोमेश अपने वामपन्थी वैचारिक सम्मोहन से मुक्त नहीं हो पाए थे। इसीलिए इन्दिरा जी के निकट आने, और उनके प्रधान मन्त्री बनने के बाद एक बार फिर थापर में 'ऊपर से समाजवादी परिवर्तन' करने की परिकल्पना जगी थी। इन्दिरा जी ने भी इसके समर्थक होने की भंगिमा दिखाई। नतीजे में थापर दम्पति ने तरह-तरह के दुस्साहसिक काम भी किए। 1969 में कांग्रेस का विभाजन और बैंकों के राष्ट्रीयकरण के निर्णय के पीछे रोमेश थापर ने सक्रिय भूमिका निभाई थी। पर बाद में इन्दिरा गाँधी की चारित्रिक विशेषताओं, उनकी जानकारी में उनके मन्त्रियों का जग-जाहिर भ्रष्टाचार, फिर संजय गाँधी के गुण्डागर्दी भरे कारनामों, दिल्ली में अधिकारियों, बैंक मैनेजर्स से जबरन वसूली जैसे कामों पर भी इन्दिरा जी की चुप्पी के बाद थापर की आशाएँ एक बार फिर टूटीं। प्रशासन में भ्रष्टाचार का बोलबाला था। कांग्रेस में बदमाश और गुण्डे भरने लगे। 1975 में देश में आपातकाल लगाया गया। धीरे-धीरे थापर दम्पति इन्दिरा गाँधी से विमुख हो गए। यद्यपि इन्दिरा इन्हें नजदीक रखना चाहती थीं। क्योंकि उन्हें मालूम था कि थापर स्वार्थी, षड्यन्त्रकारी, पदलोभी नहीं हैं और सच्चे समाजसेवी भाव से भरे, रचनात्मक रुचि के, और बड़े जानकार व्यक्ति हैं। किन्तु थापर दम्पति ने इन्दिरा गाँधी के दोहरेपन, आत्मकेन्द्रित राजनीतिक शैली और इमरजेंसी की मनमानियाँ देख लेने के बाद कटु आलोचक की भूमिका निभाई। इसके लिए उन्हें आपातकाल के दौर में *सेमिनार* को बन्द भी करना पड़ा। इस बीच अधिकांश मार्क्सवादी बुद्धिजीवी और लम्बे समय से व्यापारिक सहयोगी भी थापर दम्पति से विमुख हो गए थे। कई मित्रों ने मुँह फेर लिया था। इस दौर ने थापर को भारतीय समाज की कई अन्य सच्चाइयों से सामना कराया। इनमें से एक यह था कि वामपन्थियों समेत उच्च वर्ग के सदस्यों में लोकतन्त्र और मानवीय मूल्यों के रक्षक कम ही हैं। अर्थात् जो लोग इन मूल्यों की बड़-चढ़कर चर्चा करते हैं, समय आने पर इसके लिए कुछ भी करने से कतराते हैं। जबकि आम लोगों ने ही धीरे-धीरे देश के विभिन्न कोने से इमरजेंसी के खिलाफ आवाज उठाई और अन्ततः इन्दिरा शासन को उखाड़ फेंका। इसमें बड़े-बड़े सम्पादकों, अंग्रेजी परस्त बुद्धिजीवियों, मार्क्सवादी प्रोफेसरों की भूमिका चुपचाप रहकर हवा का रुख देखकर काम करने की थी।

इस तरह देश की कम्युनिस्ट और कांग्रेसी राजनीति के अनेक उतार-चढ़ाव देखकर जीवन के अन्तिम दौर में राज थापर में सामाजिक परिवर्तन की योजनाओं, विचारों के प्रति एक उदासीनता आ गई थी। यद्यपि उनमें रचनात्मक काम करने की क्षमता और रुचि कभी कम नहीं हुई। उन्होंने पत्रकारिता, डिजाइन, शिक्षा, बच्चों के लिए, आदि विभिन्न क्षेत्रों में जहाँ तक सूझा और बन पड़ा, तरह-तरह के रचनात्मक

काम भी किए। किन्तु राजनीतिक-सामाजिक परिवर्तन के आग्रहों में राज, और सम्भवतः रोमेश का भी उत्साह मन्द पड़ता गया। इसमें राज के कैंसर से ग्रस्त होने ने भी अपनी भूमिका निभाई होगी। अपने अन्तिम वर्षों की डायरी में, विशेषकर 1984 में सिख-विरोधी दंगों के बाद राज ने अपनी निराशा को व्यक्त किया है। क्या सचमुच मानव समाज को मनचाहे रूप में बदला जा सकता है? क्या उसका कोई रास्ता है भी? या कि मनुष्य की सभी गतिविधियाँ, क्रिया-कलाप एक 'लीला' भर है? विधि या प्रकृति की लीलाजिसमें मनुष्य हस्तक्षेप करता दिखता तो है, किन्तु शायद ही कुछ कर पाता है। ऐसे ही मनोभाव में राज थापर ने अप्रैल 1987 में इस संसार से विदा ली। अपना-अपना विशिष्ट व्यक्तित्व रखते हुए भी थापर दम्पति आपस में अभिन्न थे। यह इससे भी प्रकट होता है कि राज के जाने के बाद रोमेश भी केवल कुछ माह ही और जीवित रहे। दिसम्बर 1987 में ही *सेमिनार* को रोमेश की स्मृति में भी विशेषांक प्रकाशित करना पड़ा।

कोई यह कह सकता है कि चौथेपन में पहुँचकर, और विशेषकर आसन्न मृत्यु को देख वह उदासीनता, तटस्थता पैदा होनी स्वाभाविक है जो *ऑल दीज इयर्स* के अन्तिम हिस्से में दिखाई पड़ती है। किन्तु राज थापर के जीवन और बहुविध अनुभव हमें केवल यही निष्कर्ष नहीं देते। उसमें मार्क्सवादी अन्धविश्वास, सामाजिक-राजनीतिक सक्रियता, आर्थिक-राजनीतिक परिवर्तन और दर्शन सम्बन्धी बहुतेरे मूल्यवान निष्कर्ष और संकेत छिपे हैं। उनसे सुधीजन अपने अनेक वैचारिक भ्रम दूर कर सकते हैं। उदाहरण के लिए तनिक इस प्रश्न पर विचार करें यदि राज और रोमेश थापर जैसे भले, ऊर्जावान, समर्थ, निर्भीक और ईमानदार व्यक्तियों को युवावस्था में एक काल्पनिक, अन्धविश्वासी विचारधारा के बदले कोई सच्ची, रचनात्मक राह मिली होती तो क्या उनका योगदान इतना ही रहा होता? दूसरा प्रश्नपिछली शती के पाँचवें, छठे दशक में कम्युनिस्ट पार्टी और मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों के विचार, काम आज निस्सन्देह अत्यन्त हानिकारक, पूरी तरह मूर्खतापूर्ण, यहाँ तक कि आश्चर्यजनक भी लगते हैं (उनकी झलकियाँ *चिन्तन-सृजन* के इसी अंक में अन्यत्र देखें)। इसीलिए मार्क्सवादी पार्टियाँ, मार्क्सवादी इतिहासकार और उनके समर्थक लेखक आदि उन सभी घटनाओं, कारनामों को पूरे जतन से छिपाते¹⁴ भी हैं। लेकिन क्या आज हमारे मार्क्सवादियों द्वारा किए जा रहे कार्य कम घातक और मूर्खतापूर्ण हैं? क्या आज के उनके कामों, विचारों को तीस-चालीस वर्ष बाद हमारी परवर्ती पीढ़ी के प्रबुद्ध उसी हैरानी से नहीं देखेंगे? कृपया पाकिस्तान, कश्मीर, हिन्दू पण्डितों का नाश, परमाणु नीति, इस्लाम, आतंकवाद, मिशनरी धर्मान्तरण की गतिविधियाँ, भारतीय सीमाओं पर जनसांख्यिकी परिवर्तन, गोधरा कांड, इतिहास पुस्तकों में मिथ्याकरण, आर्थिक नीतियाँ, चीन, नक्सलवाद आदि बिन्दुओं पर भारतीय मार्क्सवादियों के आज के बयानों, क्रिया-कलापों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करें। यह समझने में अधिक कठिनाई नहीं

होगी कि कम्युनिस्ट राजनीति और मार्क्सवादी बौद्धिकता का भारत-विरोधी, समाज-द्रोही अन्दाज अपने परिणाम में आज भी उतना ही विनाशकारी है, जो पचास वर्ष पहले था। वे आज भी अपनी अन्धविश्वासपूर्ण या काल्पनिक जड़-धारणाओं को उसी तरह पत्थर की लकरी मानते हैं, जैसे उनकी पिछली पीढ़ी ने समझा था। और हाँ, जिस तरह हमारे राष्ट्रीय नेता, बुद्धिजीवी और शिक्षित लोग इससे होनेवाली हानि से तब गाफिल थे, वही स्थिति कमोबेश आज भी है। यह दुःख की बात है कि थापर दम्पति की 'तीसरी सन्तान' भी उसी घातक राजनीति और अन्धविश्वासी बौद्धिकता को समर्थन देने का मंच बन गई है। उसने अपने माता-पिता के कटु अनुभवों को बिलकुल भुला दिया है!

सन्दर्भ और टिप्पणियाँ

1. राज थापर, *ऑल दीज इयर्स* (नई दिल्ली: सेमिनार पब्लिकेशंस, 1991)
2. इसकी घोषणा आज भी *सेमिनार* के हर अंक में आवरण के बाद पहले टाइटल पृष्ठ पर लगभग हू-ब-हू अंकित है। इसमें 1959 की मूल घोषणा से आठवें दशक के उत्तरार्द्ध में केवल एक शब्द बदला गया है। 'स्वतन्त्र' के बदले 'जनता'। चूँकि स्वतन्त्र पार्टी का अस्तित्व नहीं रहा था इसीलिए बाद में थापर दम्पति ने उसके बदले जनता (पार्टी) कर दिया था। इस घोषणा के अनुसार हर माह पत्रिका में किसी एक विषय को चुना जाता है जिस पर 'भारतीय चिन्तन के हर रंग को प्रस्तुत किया जाता है। विभिन्न रुझानों के लेखक खुलकर वाद-विवाद करते हैं।' "इसमें व्यक्त विचार जनता से काँग्रेस, सर्वोदय से कम्युनिस्ट से लेकर स्वाधीन (मत) तक हर प्रकार के रहते हैं। अ-राजनीतिक विशेषज्ञ भी अपने विचार रखते हैं।" इस परिप्रेक्ष्य में अब 'जनता' का अर्थ 'भाजपा' ही हो सकता है। किन्तु इसके अंकों को पलटकर देखा जा सकता है कि अधिकांश स्थान कम्युनिस्ट और उनके खुले-छिपे संगी-साथियों को ही मिलते हैं। भाजपा, यहाँ तक कि काँग्रेसी मत को भी शायद ही कभी स्थान मिलता है।
3. राज थापर के बारे में उनके निकट रहे महत्वपूर्ण लोगों, विद्वानों के विचार जानने के लिए उन पर केन्द्रित *सेमिनार* का अंक 333, मई 1987, देखें। विशेषकर आशीष नन्दी, कर्ण सिंह और पुपुल जयकर के मूल्यांकन पठनीय हैं। इसमें राज थापर के लिखे कुछ निबन्ध भी हैं जिससे उनके मौलिक, स्वतन्त्र और बहुविध चिन्तन की झलक मिलती है। इनमें 'अवर नेशनल कैरेक्टर' अत्यन्त विचारोत्तेजक है।
4. कवि निराला ने इसे बिलकुल ठीक समझा था। एक हिन्दी मार्क्सवादी ने ही नोट किया है कि "1936 के नवम्बर में ... (एक) सभा में शरीक प्रगतिशीलों को देखकर निराला के मन में यह धारणा बनी कि प्रगतिशील लेखकों में अधिकांश वे ही हैं जो बड़े घरानों के हैं, ऊँची डिग्रियाँ और समाजवादी विचारधारा का एक बौद्धिक आवरण यूरोप से

लेकर आए हैं तथा मुक्त घूमती हुई नव-शिक्षित आधुनिकाएँ हैं।" कर्ण सिंह चौहान, *प्रगतिवादी आन्दोलन का इतिहास* (नई दिल्ली: प्रकाशन संस्थान, 1998), पृ. 76

5. राज थापर, *ऑल दीज इयर्स*, पृ. 6
6. वही, पृ. 8
7. वही, पृ. 43
8. वही, पृ. 70-71
9. वही, पृ. 359 (पृ. 129-30 भी देखें)। राज थापर के अनुसार 1973 में इन्दिरा गाँधी सरकार ने मुस्लिम लीग की माँग पर इतिहास के मिथ्याकरण की शुरुआत की (हालाँकि, वास्तव में इसकी शुरुआत यहाँ मार्क्सवादी इतिहासकारों ने 1964-65 से ही कर दी थी)। मुस्लिम लीग चाहती थी कि भारत विभाजन में उसकी भूमिका को इतिहास पुस्तकों से हटा दिया जाए, जिसे सरकार ने मान लिया। यह काम किस खूबी से किया गया इसके लिए किसी भी मार्क्सवादी इतिहासकार की पुस्तक पलट लें। ऐसा भाव मिलेगा, मानो मुस्लिम लीग ने नहीं, 'राष्ट्रवादी हिन्दुओं' अरविन्द घोष, तिलक और महात्मा गाँधी जैसे लोगों ने भारत का विभाजन करवाया हो! इस कार्य में कम्युनिस्ट पार्टी की ऐतिहासिक भूमिका तो बिलकुल सिर से गायब मिलेगी।
10. राज थापर, *ऑल दीज इयर्स*, पृ. 95
11. वही, पृ. 256-57
12. वही, पृ. 260
13. वही, पृ. 299
14. बल्कि समय बीतने के साथ यह दावा भी करते हैं कि वह सब घटनाएँ हुई ही नहीं थी! हाल में दिल्ली सरकार द्वारा तैयार की गई इतिहास की स्कूली पाठ्य-पुस्तकें मार्क्सवादी प्रोफेसरों के युवा पट्ट-शिष्यों द्वारा तैयार की गई हैं। यद्यपि अब अधिकांश अपने को खुलकर मार्क्सवादी नहीं कहते, फिर भी इन पुस्तकों की एक लेखिका विशालाक्षी मेनन ने स्वयं को स्पष्ट रूप से 'कम्युनिस्ट' कहा है। इन्हीं पुस्तकों में से एक में लिखा है कि "भारत विभाजन का समर्थन हरेक राजनीतिक दल ने किया था"। यह विद्वता की आड़ में कम्युनिस्ट प्रचार का केवल एक नमूना है। दुर्भाग्य से देश के विद्वानों, बुद्धिजीवियों ने मार्क्सवादी कपट और मिथ्याचार की संहारक शक्ति का कभी सही आकलन नहीं किया। इसीलिए उनके प्रति सतर्क रुख नहीं अपनाया जाता, उल्टे उन्हें भी 'एक वैचारिक धारा' की सम्मानजनक पहचान मिली रही है। इसीलिए वे वैसे घातक काम कर पाते हैं जिनकी जीवन्त तस्वीर *ऑल दीज इयर्स* में जगह-जगह मिलती है। वही आज भी हो रहा है। किन्तु जैसे पिछले दशकों में उनके प्रति हमारे शिक्षित समाज ने उदासीन, उदार रुख अपनाए रखा, वही स्थिति आज भी है। यही कारण है कि देश की राजधानी दिल्ली में ही छात्रों को नादिरशाह जैसे नृशंस, विदेशी हमलावरों के बारे में महानता भरे विवरण पढ़ाए जा रहे हैं, जबकि गुरु नानक जैसे महापुरुष का उल्लेख तक नहीं है। ऐसे विचित्र इतिहास लेखन के पीछे मार्क्सवादी राजनीति से ओत-प्रोत लेखकों का सचेत,

हिन्दू-विरोधी अभियान है। इसके तहत सदियों पहले के इस्लामी हमलावरों से आज के भारतीय मुसलमानों को जान-बूझकर जोड़कर एक हिन्दू-विरोधी मोर्चा बनाए रखने का षड्यन्त्र है। भारत के मुसलमान भी जो अधिकांश भय और आतंक के जोर पर धर्मान्तरित कराए गए बौद्ध और हिन्दू लोग थे उन इस्लामी हमलावरों के उत्पीड़ने के ही शिकार रहे थे। बल्कि कई मामलों में वही पहले शिकार थे। लेकिन इन सच्चाइयों को छिपाकर मार्क्सवादी लेखक आज के भारतीय मुसलमानों को सीधे उन तुर्कों, मंगोलों का उत्तराधिकारी जैसा प्रस्तुत करते हैं। अन्दाज यह बनाते हैं मानो महमूद गजनवी, नादिर शाह या बाबर की आलोचना आज के मुसलमानों को स्वाभाविक रूप से बुरी लगेगी! मार्क्सवादी लेखकों द्वारा इस तरह की धूर्ततापूर्ण प्रस्तुति भारत के हिन्दुओं, मुसलमानों को अलग-अलग खानों में बाँटकर रखने की सोची-समझी राजनीतिक चाल है। लेकिन यह सब कहने पर भी धर्मनिरपेक्षता इस चाल को, इस दुरभिसन्धि को पहचानेंगे! ठीक यही विधि गिरने वाली है।

Dialogue
Quarterly English Journal of

Astha Bharati, Delhi

20th issue already published
Published Special Numbers:

Illegal Migration from Bangladesh
Central Asia
Fiscal Mismanagement in North East India
Maoist Insurgency in Nepal and India
India: Security Dimensions,
Indian Islands: Andaman & Nicobar Islands and Lakshadwip
South-East Asia
Secularism: India in Labyrinth
India's Neighbourhood
Governance in the North-East
Forthcoming Issues:
Police in India
India: Population Growth, Planning and the Problems
Islam in India
Jammu, Kashmir and Laddakh

इतिहास के सहायत्री

मदनमोहन तरुण*

हम अपने समय के साक्षी ही नहीं, उसके सहभोक्ता भी हैं। हमारे आसपास जो घटित हो रहा है वह हमारे आज का जीवन है और कल का इतिहास, जिसमें हमारी आनेवाली पीढ़ियाँ अपने समय के स्रोत की तलाश करेंगी। कभी गर्व से उनका मस्तक उन्नत हो उठेगा, कभी ग्लानि और शर्म से उनका चेहरा लाल हो जाएगा। उन्हें उनका इतिहास पुनर्विश्लेषण के लिए उकसाएगा और वे उपलब्ध तथ्यों से भी अधिक जानना चाहेंगे। औपचारिक इतिहास से अलग वे उस काल के सहज स्वाभाविक संस्मरणों की टोह में लगेगे, उस काल के साहित्य और अन्य विधाओं के माध्यम से उस व्यतीत का साक्षात्कार करना चाहेंगे, जिसके वे साक्षी नहीं थे क्योंकि इतिहासों का भी एक अपना सच होता है। वे कई बार अलग-अलग दृष्टियों से विश्लेषित दस्तावेज होते हैं। यह लेख उसी दिशा में द्विवेदी काल के लेखक गिरीन्द्रमोहन मिश्र की मैथिली में रचित, 1973 में प्रकाशित तथा 1975 में साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित संस्मरणात्मक पुस्तक *किछु देखल : किछु सुनल* का विवेचन है।

मैं 1966 में दरभंगा के उनके निवासस्थान पर उनसे मिला था। उन दिनों मैं एक कॉलेज का युवा लेक्चरर था। मई का महीना था। कड़ाके की धूप और लू में करीब तीन बजे जब उनके निवासस्थान पर पहुँचा, तो मैं पसीने से करीब-करीब नहा गया था। बाहर बरामदे में लगी बेंच पर बैठ गया और उनके नौकर से सन्देश भेज दिया। उन्होंने तुरत बुला लिया। कानून की पुस्तकों से ठसाठस भरे कक्ष में खादी की सफ़फ़ाक गंजी और धोती पहने गौर वर्ण, सिकुड़न मुक्त भास्वर मुखमण्डल, प्रशस्त ललाट, ललाई लिए भरे सहृदयतापूर्ण ओष्ठ और आँखों की पारदर्शी पुतलियों पर झुकती नर्म पलकोंवाले उन सुप्रसिद्ध विधिवेत्ता, राजनीतिज्ञ एवं साहित्यकार ने जिस स्नेहिल आत्मीयता से मेरा स्वागत किया था, उस प्रभाव को भुला पाना असम्भव है। उम्र अस्सी को छू रही होगी। मेरे सामने जैसे स्वयं इतिहास पुरुष बैठा हुआ था। उनके व्यक्तित्व की भव्यता में एक औदार्यपूर्ण विशिष्टता थी जो सामने बैठे व्यक्ति को

* प्रोफेसर मदन मोहन तरुण पौ-एच.डी., डी.लिट., लाल बहादुर शास्त्री नेशनल एकेडेमी आफ एडमिनिस्ट्रेशन, मसूरी के भाषा संकाय के आचार्य एवं अध्यक्ष, तथा नेशनल डिफेन्स अकादमी, खडकवासला, पूणे के वरिष्ठ अकादमिक अधिकारी रहे हैं।

किंचित भी बोझिलता का एहसास नहीं कराती थी। बरसों बाद उनकी इस पुस्तक को पढ़ने के बाद मेरे लिए यह समझ पाना सरल नहीं था कि इस विभूतिमय व्यक्तित्व ने अपना आलोक मण्डल इतनी सरल सहजता से कैसे सँभाल रखा था। यह पुस्तक स्वयं लेखक के परिवार के द्वारा बिना किसी तामझाम के प्रकाशित है। इसकी जो प्रति मेरे पास है, वह पूरी तरह सँभालने के बावजूद बुरी हालत में है। किन्तु, असन्दिग्ध रूप से यह पुस्तक अपने समय का एक ऐसा दस्तावेज है जिसमें भारतीय स्वाधीनता संग्राम काल से स्वाधीनोत्तर भारत की राजनैतिक-संस्कृति एवं भाषा तथा साहित्य विषयक ऐसे कई प्रसंग हैं, जो यहाँ पहली बार दर्ज हुए हैं।

सुप्रसिद्ध आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा ने हिन्दी साहित्य को उनके अवदान की चर्चा इन शब्दों में की है

जिस समय चारों तरफ वेदान्त के नाम पर विज्ञान-विरोधी अध्यात्मवाद का प्रचार-प्रसार हो रहा था उस समय गिरीन्द्रमोहन मिश्र जैसे थोड़े से लेखक थे जो प्रयत्न कर रहे थे कि शिक्षितजनों का चिन्तन विज्ञान की दिशा में बढ़े।¹

उन्होंने 1913 के मार्च महीने की **सरस्वती** में प्रकाशित उनके लेख *मानवीय ज्ञान का क्रमविकास* का विस्तृत विवेचन करते हुए लिखा है **द्विवेदी जी ने ज्ञान प्रक्रिया के बारे में जो कुछ लिखा उससे अधिक सुसंगत रूप में उसी प्रक्रिया पर गिरीन्द्रमोहन मिश्र जी ने विचार किया।** इतना ही नहीं, वे मिश्र जी के इस निबन्ध में अस्तित्ववाद के भावी रूप की झलक पाते हैं।²

किछु देखल : *किछु सुनल* इसी दृष्टिसम्पन्न लेखक के 1897 से 1960 के बीच के मूलतः बिहार तथा प्रसंगतः राष्ट्रव्यापी घटनाक्रम का संस्मरणात्मक विवेचन है जिसमें कहीं तो लेखक मात्र दर्शक रहा, कहीं उसका सहभोक्ता और कहीं-कहीं संचालक भी। लेखक ने ब्रिटिश न्यायपालिका को बहुत निकट से देखा तथा अपने समय के राजाओं-महाराजाओं, ब्रिटिश और भारतीय आई. सी. एस. अधिकारियों एवं उस समय के महत्वपूर्ण राजनेताओं, विद्वानों, पत्रकारों के निकट सम्पर्क में रहा। यही कारण है कि इस पुस्तक में उन्होंने ऐसे कई प्रसंग एक साक्ष्य की दृष्टि से यथावत प्रस्तुत किए हैं, जिनका विवरण अन्यत्र उपलब्ध नहीं है।

लेखक ने **आत्मनिवेदन** में मैथिली भाषा में इस पुस्तक के लेखन के कारणों पर इन शब्दों में प्रकाश डाला है **किछु वर्ष पहिने कतोक मित्र हमरों सँ अपन संस्मरण लिखवाक आग्रह कएने रहथि। तदनुसार हम संस्मरण रूप लेख हिन्दी में लिखवाक विचार कएलहुँ आओर लिखब प्रारम्भो कएल, किन्तु किछु दिनुक बाद दिवंगत पण्डित रमानाथ झा हमरा अपन संस्मरण मैथिली में लिखवाक आग्रह कएलन्हि। यद्यपि ओ हिन्दी में लिखवाक विरोधी नहिं छलाह, परन्तु हुनका विचारें पहिने मैथिलीए में लिखब बांछनीय थिक, तएँ ओ एहि हेतु**

आग्रह कएने रहथि। हमहुँ पछाति इएह विचार स्थिर कएल जे जहि भाषा में हम बाजल सिखलहुँ, जहि भाषाक व्यवहार बाल्यावस्थाहिसे घर-गामन में करैत अएलहुँ ताही अपन भाषा में अपन किछु संस्मरण रूपक लिखब समुचित थिक।³ (कुछ वर्ष पूर्व कई मित्रों ने मुझसे अपना संस्मरण लिखने का आग्रह किया था। उसी के अनुसार मैंने हिन्दी में संस्मरण लिखने का विचार किया और लिखना आरम्भ भी कर दिया था, परन्तु दिवंगत पण्डित रमानाथ झा ने मुझसे अपना संस्मरण मैथिली भाषा में लिखने का आग्रह किया। यद्यपि वे हिन्दी के विरोधी नहीं थे, किन्तु उनका विचार था कि पहले मैथिली में ही लिखना बांछनीय है, अतः उन्होंने इस हेतु आग्रह किया था। बाद में मैंने भी यही विचार किया कि जिस भाषा में हमने बोलना सीखा है, जिस भाषा का व्यवहार बाल्यकाल से ही घर-आँगन में करता आया हूँ, उसी भाषा में अपना कुछ संस्मरण लेख लिखना उचित है।)

तीन सौ साठ पृष्ठों में विन्यस्त यह पुस्तक दो खण्डों में विभाजित है। प्रथम भाग लेखक के निजी पारिवारिक जीवनवृत्त से होता हुआ छात्रों के बीच स्वाधीनता की सुगबुगाहट, बंग विभाजन, महात्मा गाँधी का फैलता प्रभाव, न्याय-व्यवस्था, कचहरियों की भाषा, बिहार में हिन्दी-अंग्रेजी पत्रकारिता का विकास और चुनौतियाँ, लेखक के कुछ वरिष्ठ शिक्षक, कुछ महत्वपूर्ण आई. सी. एस. अधिकारी, वकील, न्यायाधीश, महत्वपूर्ण मुकदमे तथा दूसरे भाग में लेखक की दरभंगा राज की सेवा, भारत छोड़ो आन्दोलन, मुस्लिम लीग द्वारा डाइरेक्ट एक्शन, साम्प्रदायिक दंगा, मैथिली साहित्य परिषद, जमींदारी उन्मूलन विषयक अधिनियम तथा अन्य कई प्रासंगिक विषयों तक फैला हुआ है। यह पुस्तक किसी भी दृष्टि से स्वाधीनता संग्राम कालीन भारत का एक और इतिहास नहीं है, बल्कि औपचारिक इतिहास लेखकों को कई मौलिक अनुद्घाटित सामग्री प्रदान करने में समर्थ है। इस आलेख में मुख्यतः ऐसे ही प्रसंगों की चर्चा की गई है जिनका या तो अन्यत्र उल्लेख नहीं है, अथवा उसी विषय की चर्चा, इस पुस्तक में वर्णित वृत्तान्त से भिन्न है। जैसा कि लेखक ने लिखा है कि उसे जैसे-जैसे बातें याद आती गईं, वह उसी रूप में लिखता चला गया। इस दृष्टि से विवरणसूत्र में फैलाव तथा कहीं-कहीं बिखराव भी है। इस आलेख में प्रयास किया गया है कि एक विषय के सारे सूत्र एक ही साथ प्रस्तुत कर दिए जाएँ।

बंग-विभाजन लेखक की छात्रावस्था की उन महत्वपूर्ण घटनाओं में है जिसने देशव्यापी प्रभाव डाला और लोगों की स्वाधीनता की चेतना को पूरी प्रखरता से उद्वुद्ध कर दिया। उन दिनों लेखक एफ. ए. के छात्र थे और राजेन्द्र बाबू बी. ए. के। राजेन्द्र बाबू 1902 में छपरा जिला स्कूल से एण्ट्रेस की परीक्षा में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त कर प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे तथा वे बाद में एफ. ए., बी. ए. ओर एम. ए. की परीक्षाओं में भी कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्रथम आए। राजेन्द्र बाबू अच्छे विद्यार्थी होने के साथ-साथ छात्र संगठनों की गतिविधियों में भी भाग लिया करते थे।

1905 में जब लॉर्ड कर्जन बड़ा लाट के पद पर थे तभी बंगाल का विभाजन हुआ। उन दिनों असम प्रान्त के मुख्य प्रशासक चीफ कमिश्नर हुआ करते थे। बंगाल, बिहार तथा उत्कल को मिलाकर एक ही प्रान्त था, जिसे बंगाल कहा जाता था। इस प्रान्त के शासक लेफ्टिनेण्ट गवर्नर होते थे। बंगाल के पूर्व में मुसलमानों की संख्या अधिक थी, अतः असम तथा पूर्व बंगाल को मिलाकर एक नया प्रान्त बना दिया गया जो एक नए लेफ्टिनेण्ट गवर्नर के अधीन था। बंगाल का पश्चिमी भाग पूर्ववत बिहार और उत्कल के साथ बना रहा। एक ही बंगला भाषा-भाषियों के दो भागों में विभाजन से बंगालियों को बहुत आघात पहुँचा। बंगाल के विभाजन से यह स्पष्ट हो गया कि अंग्रेज हिन्दू-मुसलमानों के बीच सद्भाव और देश के राजनीतिज्ञों की एकता से घबड़ाते थे। बंगाल में विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार तथा स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार का आन्दोलन तीव्रतर हो गया। बंगाल के सार्वजनिक नेताओं का एक दल यह मानता था कि मात्र प्रार्थनापत्र से अंग्रेज भारतीयों को राजनीतिक अधिकार नहीं देंगे इसलिए कुछ ऐसा करने का निर्णय भी लिया गया कि अंग्रेज भारतीयों को राजनीतिक अधिकार देने को बाध्य हो जाएँ। इस तरह आन्दोलनकारियों की कार्यशैली के दो रूप हो गए नरम दल और गरम दल। गरम दल के लोग अपने को राष्ट्रीय दल कहते थे। बंगाल का यह आन्दोलन उग्र से उग्रतर होता चला गया। बड़ौदा कॉलेज के प्राध्यापक अरविन्द घोष कॉलेज छोड़कर आन्दोलन में पूरी तरह भाग लेने के लिए कलकत्ता आ गए तथा वहीं से **वन्देमातरम** के प्रकाशन-सम्पादन का कार्य आरम्भ हुआ। उनके छोटे भाई बरेन्द्र घोष ने एक क्रान्तिकारी दल का गठन किया जिसका उद्देश्य था हिंसात्मक उपायों से अंग्रेज शासक का विरोध करना। स्थान-स्थान पर गुप्त समितियों, संगठनों के गठन होने लगे और बम बनाने का कार्य आरम्भ हुआ।

इस आन्दोलन से प्रभावित होकर पटना के एक छोटे से समुदाय ने **देशभक्त सोसायटी** नाम से एक संस्था स्थापित की जिसमें कुछ नवयुवक प्रत्यक्ष रूप से व्यायाम किया करते थे तथा लाठी भाँजना सीखते थे। इसका मुख्य उद्देश्य था अधिक-से-अधिक संख्या में नवयुवकों को सुशिक्षित और स्वावलम्बी बनाना तथा राजनीतिक मार्ग में प्रेरित करना ताकि वे विदेशी सत्ताधारियों में स्वदेशियों को सत्ता सौंपने की बाध्यता उत्पन्न कर सकें।

खुदीराम बोस और प्रफुल्ल चाकी

1908 तक बंग-विच्छेद का आन्दोलन और भी तीव्रतर हो गया था। कई अंग्रेज अधिकारी क्रान्तिकारियों की हिटलिस्ट पर थे। मिस्टर किंग्सफोर्ड कलकत्ता प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट की अदालत के प्रधान न्यायाधीश थे। उन्होंने राजद्रोह सिद्ध करते हुए क्रान्तिकारियों के विरुद्ध कई फैसले सुनाए थे। इन कारणों से सरकार को आशंका

थी कि कहीं फोर्ड की प्राणहानि न हो, अतः रक्षात्मक निर्णय लेते हुए उन्हें कलकत्ता से जिला जज के पद पर नियुक्त कर मुजफ्फरपुर स्थानान्तरित कर दिया गया। कुछ ही दिन पश्चात खुदीराम बोस तथा प्रफुल्ल चाकी उनकी हत्या के लिए कलकत्ता से मुजफ्फरपुर पहुँच गए। मिस्टर किंग्सफोर्ड प्रतिदिन सन्ध्या को मुजफ्फरपुर यूरोपियन क्लब में आया करते थे। एक दिन सन्ध्या समय जब सभी लोग क्लब से बाहर निकल रहे थे, उसी समय मुजफ्फरपुर के एक वृद्ध वकील मिस्टर केनेडी भी अपनी पत्नी के साथ घोड़ागाड़ी पर बैठकर अपने बँगले के लिए रवाना हुए। खुदीराम बोस तथा प्रफुल्ल चाकी में से किसी एक ने भ्रमवश उनकी गाड़ी पर बम फेंक दिया। बम संयोगवश मिस्टर केनेडी को नहीं लगा, परन्तु उनकी पत्नी की घटनास्थल पर ही मृत्यु हो गई। अपना कार्य समाप्त कर खुदीराम बोस समस्तीपुर की ओर से कलकत्ता जाने के लिए रवाना हो गए। उन्होंने सोचा था कि अगले किसी स्टेशन पर वे कोई ट्रेन पकड़ लेंगे। अब तक इस खबर से चारों ओर हलचल मच गई थी। दूसरे दिन प्रायःकाल कुछ दिन उठने पर खुदीराम पूसा रोड स्टेशन की एक दुकान में मुट्ठी फाँक रहे थे। उनके पास ही खड़े एक यात्री ने यह चर्चा की कि कल रात मुजफ्फरपुर के एक वकील की पत्नी की बम से हत्या हो गई। खुदीराम बोस इस चर्चा को सुनते ही जोरों से चौंक पड़े और मुट्ठी का दोना उनके हाथ से छूटकर गिर पड़ा। उनकी इस चेष्टा से पास ही खड़े कांस्टेबल को शंका हुई और उसने उन्हें गिरफ्तार कर लिया। यह कांस्टेबल मुजफ्फरपुर से इन्हीं लोगों की खोज में निकला था। उधर प्रफुल्ल चाकी कलकत्ता के लिए रवाना हो चुके थे। पुलिस उनके पीछे भी लग चुकी थी। प्रफुल्ल सिमरियाघाट स्टेशन से पार उतरकर जब मोकामा जंक्शन स्टेशन के प्लेटफार्म से जा रहे थे, तब आसपास की गतिविधि से उन्होंने समझ लिया कि खुफिया पुलिस उनके पीछे लग चुकी है और अब उनका गिरफ्तार होना असन्दिग्ध है। उन्होंने अपनी जेब से रिवाल्वर निकालकर एक फायर पुल के ऊपर की ओर किया और दूसरी गोली अपने गले के आरपार उतार ली।

बालगंगाधर तिलक

क्रान्तिकारियों के उपद्रव के विरुद्ध सरकार की दमन नीति भी तीव्रतर होती गई। बालगंगाधर तिलक अपने प्रान्त से मराठी भाषा में **केसरी** का सम्पादन-प्रकाशन कर रहे थे। उन्होंने **केसरी** में सरकार की दमननीति के विरुद्ध **हे उपाऊँ टिकाऊ नाहेंव** शीर्षक से एक तीव्र आलोचनात्मक अग्रलेख लिखा। इसी का अनुवाद मध्य प्रदेश के नागपुर नगर से माधवराव सप्रे के सम्पादन में प्रकाशित साप्ताहिक हिन्दी केसरी में दूसरे ही दिन **ये उपाय टिकाऊ नहीं हैं** के शीर्षक से प्रकाशित हुआ। तिलक के उस उग्र लेख से विचलित होकर सरकार ने उन पर भारतीय दण्ड विधान की धारा

144 ए के अनुसार राजद्रोह का आरोप लगाया। इस अभियोग की सुनवाई बम्बई हाईकोर्ट में की गई। अपने विरुद्ध लगे अभियोग का प्रतिवाद कोर्ट में स्वयं तिलक ने किया। लेखक ने उस रोमांचक क्षण की कल्पना से देशव्यापी चिन्ता के स्वरूप को इन शब्दों में रखा है **हम छात्रों में मुकदमे के सम्बन्ध में काफी उत्सुकता थी। हम लोगों की कौन कहे, पटना सीटी के मजिस्ट्रेट श्री शंकर बालाजी धावले आई.सी.एस. मुकदमे की सुनवाई देखने के लिए छुट्टी लेकर बम्बई गए।**⁴ इस सन्दर्भ में तिलक जी को छह वर्ष की कारागार की सजा हुई। इस अवधि में उन्हें बर्मा प्रदेश के मण्डालय नगर की जेल में रखा गया। यहीं उन्होंने अपने महान ग्रन्थ **गीता रहस्य** की रचना की।

लेखक ने बाल गंगाधर तिलक की सजा से विक्षुब्ध पटना के छात्रों द्वारा निकाले गए एक जुलूस का चित्रण कुछ इस प्रकार किया है **बाल गंगाधर तिलक की सजा से जनता में, विशेषकर छात्र समुदाय में व्यापक विक्षोभ फैल गया। फिर भी उनमें कुछ भय की भी भावना थी। पटना मेडिकल स्कूल (लेखक ने स्कूल शब्द का ही प्रयोग किया है) में नागपुर के पचीस मराठी भाषाभाषी छात्र थे। इन लोगों ने क्षोभ व्यक्त करने के लिए एक जुलूस का आयोजन किया। मैं अपने मित्र लक्ष्मण राव पराड़कर के माध्यम से उनसे परिचित था। मैं उन दिनों कानून के प्रथम वर्ष का छात्र था। उनके आग्रह से मैं भी जुलूस में सम्मिलित हुआ। जुलूस पटना कॉलेज के प्रधान फाटक से चला था। इसमें पटना कॉलेज के एकमात्र छात्र फणिभूषण मुखर्जी⁵ सम्मिलित हुए। बंगाली समाज की प्रथा के अनुसार फणी बाबू शोकवेष धारण किए हुए थे। वे खाली पाँव और शरीर पर एक चादर मात्र लपेटे हुए थे। जुलूस के प्रस्थान के समय एक-दो छात्रों ने शोकगीत गाना शुरू किया था। अकस्मात् वहाँ बिहार नेशनल कॉलेज⁶ के अंग्रेजी के प्राध्यापक नरेन्द्र बाबू दिखाई दिए। वे उच्च कोटि के विद्वान और भावुक देशभक्त थे। वे जुलूस देखने के लिए आए थे। यहाँ सबको शोकसूचक गान गाते देखकर उन्होंने जोरों से डाँटते हुए कहा कि यह अवसर करुण रस का नहीं, वीर रस के गान गाकर लोगों में उत्साह जगाने का है। हम लोगों का जुलूस चौहट्टा मुरादपुर होते हुए अदालत घाट पर स्थित मन्दिर में पहुँचा। वहाँ एक सभा हुई और कुछ भाषण हुए तथा हमारे जुलूस की इतिश्री हुई।⁷**

उन दिनों जुलूसदि में भाग लेनेवालों को सरकार की ओर से राजद्रोही करार देना आम बात थी अतः संख्या में कम होने के बावजूद ऐसे आयोजन काफी चर्चित होते थे और जनोत्साह वर्धन में बहुत सहायक होते थे। ये साहस एवं आक्रोश से भरे छोटे और सांकेतिक आयोजन एक बड़ी तैयारी के शुरुआती कदम भी थे।

पटना कॉलेज तथा बिहारी स्टूडेंट सेण्ट्रल एसोसिएशन

1904 में इण्ट्रेन्स की परीक्षा पास कर लेखक पटना कॉलेज में प्रविष्ट हुए। उन दिनों पटना कॉलेज में कोई होस्टल नहीं था। इनका निर्माण कार्य 1906 में तब आरम्भ हुआ जब लेखक तृतीय वर्ष बी.ए. के छात्र थे। इसी क्रम में लेखक ने पटना कॉलेज के अपने कुछ प्राध्यापकों की भी चर्चा की है जो अपने क्षेत्र के विशिष्ट विद्वानों में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उन दिनों पटना कॉलेज के प्रिंसिपल थे मिस्टर एलेक्जेंडर मैकडोनल जिनका तीन महीने बाद ही स्थानान्तरण हो गया। प्रोफेसर मिस्टर हेनरी रौसर जेम्स उनकी जगह गए प्राचार्य नियुक्त हुए। आचार्य यदुनाथ सरकार अंग्रेजी गद्य साहित्य के प्राध्यापक थे। उनके बारे में मिश्र जी ने लिखा है कि वे असाधारण स्वाध्यायी थे तथा अपना एक भी क्षण बर्बाद नहीं करते थे। सन्ध्या समय निश्चित समय पर टहलने निकलते और कदाचित कोई उस समय उनसे मिलने आ गए तो वे निःसंकोच कह देते कि यह उनके टहलने का समय है। अंग्रेजी के साथ इतिहास उनके अध्ययन का मुख्य विषय था। वे इतिहास में विशेषतः मुगलकाल के अध्ययन में रुचि रखते थे। उन्होंने एतदर्थ फारसी का अध्ययन किया तथा कुछ ही दिनों में इसमें इतनी महारत हासिल कर ली कि 1909 में जब डुमराँव राज्य से सम्बद्ध मुकदमों में फारसी भाषा में लिखे गए पत्रों एवं दस्तावेजों को पढ़ने की आवश्यकता हुई तो उन्हें तत्सम्बन्धी साक्ष्य के विशेषज्ञ के रूप में नियुक्त किया गया। वैसे तो यदुनाथ सरकार ने कई पुस्तकें लिखी, परन्तु मुगल साम्राज्य के पतन से सम्बन्धित उनकी पुस्तक इस विषय की अग्रगण्य कृति मानी जाती है। विद्यार्थी जीवन के पश्चात् लेखक की मुलाकात उनसे 1916 में हुई, जब वे बिहारी छात्र सम्मेलन के अध्यक्ष के रूप में दरभंगा आए थे और लेखक स्वयं उसके स्वागताध्यक्ष थे।

लेखक ने अपने जिस अन्य शिक्षक की चर्चा की है वे हैं आचार्य रामावतार शर्मा। वे मिण्टो होस्टल के अधीक्षक थे। उन्हीं के जमाने में एक ऐसी घटना हुई जिससे बिहार की छात्र राजनीति ने नया मोड़ लिया। पण्डित रामावतार शर्मा संस्कृत साहित्य पढ़ाते थे। पटना कॉलेज में नियुक्ति पाने के पहले वे काशी के सेण्ट्रल हिन्दू कॉलेज में प्राध्यापक थे। सरकारी कॉलेज होने के कारण उन्होंने पटना कॉलेज की नौकरी स्वीकार की थी। बाद में बसु मल्लिक फेलोशिप पाकर वे कलकत्ता विश्वविद्यालय चले गए जहाँ से उनकी नियुक्ति की अवधि पूरी होने के पहले ही पटना कॉलेज ने उन्हें फिर से वापस बुला लिया। शर्मा असाधारण विद्वान थे। उन्होंने अपने विद्यार्थियों को स्वयं बताया था कि उन्हें अंग्रेजी की शिक्षा विधिवत रूप से कभी किसी स्कूल या कॉलेज में नहीं मिली थी। अपने घर पर ही **अमरकोश** तथा **सारस्वत चन्द्रिका** पढ़कर वे काशी पढ़ने चले गए थे। चार खण्डों तक व्याकरण की परीक्षा समाप्त कर लेने के पश्चात् उन पर अंग्रेजी सीखने की धुन सवार हुई। उस समय तक संस्कृत के

विद्यार्थियों को ग्रन्थ कण्ठस्थ करा देने की परम्परा थी। इस विधि से उन्हें पूरा अमरकोश कण्ठस्थ था। इसी पद्धति के अनुसार उन्होंने अंग्रेजी का अध्ययन भी आरम्भ किया और वे पूरा **चेम्बर्स कोश** कई बार शब्द-प्रति-शब्द देख गए। यथा समय उन्होंने अंग्रेजी की इण्ट्रेन्स परीक्षा पास की और एक इंग्लिश स्कूल में शिक्षक हो गए। इसी पद पर कार्य करते हुए उन्होंने दो विषयों में, दो विश्वविद्यालयों से एक साथ इण्टरमीडिएट की परीक्षा पास की। बाद में उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय से बी.ए. तथा एम.ए. की परीक्षाएँ प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण की। वे शेक्सपियर के समस्त नाटक कई बार समीक्षा सहित पढ़ गए थे तथा संस्कृत के बारे में उनका कहना था कि इस भाषा में अब तक कुछ भी ऐसा प्रकाशित नहीं है जिसे उन्होंने पढ़ा नहीं हो। उनकी कई पुस्तकें मिथिला इंस्टीट्यूट से प्रकाशित हैं। उनका सर्वाधिक समादृत ग्रन्थ है **प्राच्यविद्या महार्णव** जिसमें एक लाख श्लोक हैं। मात्र साठ वर्ष की आयु में उनका निधन हो गया।

इन्हीं के कार्यकाल में छात्रों की एक अभूतपूर्व हड़ताल हुई। मिण्टो होस्टल के एक छात्र हरेश्वर प्रसाद को यह शंका हुई कि वे यक्ष्मा रोग से पीड़ित हैं अतः उन्हें घर लौट जाना चाहिए। उनके सम्मान में होस्टल के ऊपर के तल्ले पर रात में दस बजे एक सभा रखी गई। उसमें एक छात्र राधिका बाबू का भाषण इतने जोश में हुआ कि उनकी आवाज से उत्तेजित होकर कुछ दूरी पर अवस्थित प्रिंसिपल जैक्सन साहब का कुत्ता जोर-जोर से भौंकने लगा जिससे जैक्सन साहब की नींद खुल गई और वे बाहर निकल आए। यह समझ में आने पर कि छात्रावास में सभा हो रही है वे वापस अन्दर चले गए। दूसरे दिन होस्टल सुपरिण्डेण्ट शर्मा जी से उन्होंने पूछा कि क्या सभा उनकी अनुमति से हुई थी? नकारात्मक उत्तर मिलने पर उन्होंने सभा के दो प्रमुख वक्ता भगवान बाबू और राधिका बाबू को दो सप्ताह के लिए होस्टल से निष्कासित कर दिया। शेष छात्रों को आठ-आठ आने का जुर्माना हुआ। इसकी प्रतिक्रिया में होस्टल के छात्रों ने हड़ताल कर दी जो पाँच दिनों तक चली। होस्टल छोड़कर छात्र लेखक के किराए के आवास में आ गए। बिहार के किसी भी कॉलेज के छात्रों की यह अपने ढंग की पहली हड़ताल थी। जब उस हड़ताल को वापस लेने के सभी प्रयास विफल हो गए तो पूर्व प्राचार्य मिस्टर जेम्स से अनुरोध किया गया कि वे स्थिति के नियन्त्रण में सहायता करें। प्राचार्य जेम्स छात्रों से मिलने स्वयं आए। उन दिनों वे कलकत्ता के प्रेसिडेन्सी कॉलेज के प्राचार्य थे साथ ही लोक शिक्षा निदेशक भी थे। उनके अनुरोध पर छात्रों ने हड़ताल वापस ले ली और उनकी सजा भी निरस्त कर दी गई।

इसी वर्ष एक दूसरी घटना हुई। पटना के छात्रों ने एक सहयोग समिति बनाने का निर्णय लिया। उसका उद्देश्य था छात्रों को उनके दैनिक उपयोगिता की सामग्री एक ही स्थान पर उपलब्ध कराने के लिए एक दुकान खोलना। इस निर्णय के उपलक्ष्य

में एक सभा की गई जिसके सभापति थे मिस्टर अली इमाम। यहाँ भी राधिका प्रसाद ने एक ओजस्वी भाषण दिया जिसमें देश की स्वाधीनता की भी चर्चा की गई थी। वे इस समय पटना कॉलेज के चतुर्थ वर्ष के छात्र थे। ड्रिल टीचर मौलवी हमीद ने चुपके से जिला मजिस्ट्रेट को एक प्रतिवेदन भेजते हुए अनुरोध किया कि द्वारिका प्रसाद का भाषण राजद्रोहात्मक था, अतः उनके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्रवाई की जाए। इसी सूचना के आधार पर जैक्सन साहब ने राधिका बाबू को दण्डित करते हुए उनसे कहा कि सभा में उनका भाषण राजद्रोहात्मक था अतः उन्हें बी. ए. की अन्तिम परीक्षा में बैठने की अनुमति नहीं दी जाएगी। बिहारी छात्र समिति को यह सूचना मिली। वे इस आदेश को निरस्त कराने के प्रयास में तुरत सक्रिय हो गए। अन्ततः मिस्टर अली इमाम के लिखित अनुरोध से राधिका बाबू को जैक्सन साहब के कोप से मुक्ति मिली।

इन छोटी-मोटी घटनाओं एवं देश में स्वाधीनता के प्रति निरन्तर तेज होती हवा ने छात्रों को और भी व्यवस्थित होकर संगठित होने की प्रेरणा दी।

1906 में विश्वविद्यालय की परीक्षा के परिणाम प्रकाशित होने के पश्चात छपरा के एक छात्र अयोध्या प्रसाद ने **बिहारी छात्र सम्मेलन** का प्रस्ताव रखा तथा राजेन्द्र बाबू से भी अनुरोध किया कि वे इसमें भाग लें। आयोजन के विषय को उपयुक्त जानकर राजेन्द्र बाबू इसमें सहयोग देने को तैयार हो गए तथा उन्होंने कलकत्ता के **बिहारी क्लब** के सदस्य के रूप में इसमें भाग लिया। वे इसकी स्थायी समिति के सदस्य चुने गए। स्थायी समिति का नाम **बिहार स्टूडेंट फेडरेशन** रखा गया जिसका कार्यालय पटना में था।

लेखक ने 1908 में मुजफ्फरपुर में आयोजित इसके एक सम्मेलन में बाबू राजेन्द्रप्रसाद जी से सम्बद्ध एक प्रेरक प्रसंग की चर्चा की है जो उनके भावी व्यक्तित्व के स्वरूप की एक झाँकी प्रस्तुत करता है। सम्मेलन का आयोजन वहाँ के लंगट सिंह कॉलेज में किया गया था। उन दिनों उस कॉलेज का नाम भूमिहार ब्राह्मण कॉलेज था। बाद में बिहार के प्रथम मुख्यमन्त्री श्रीकृष्ण सिंह की प्रेरणा से उसका नाम उसके संस्थापक बाबू लंगट सिंह के नाम पर रखा गया। आयोजित छात्र सम्मेलन का स्थान स्टेशन से कुछ दूरी पर था। आगन्तुक छात्रों को वहाँ से ले जाने के लिए घोड़ागाड़ी की व्यवस्था की गई थी तथा साथ का सामान ले जाने के लिए कुछ स्वयंसेवक भी नियुक्त थे। भाग लेनेवाले छात्रों की तुलना में घोड़ागाड़ियों की संख्या पर्याप्त नहीं थी। जब राजेन्द्र बाबू ट्रेन से उतरे तब अन्य छात्रों से प्रतीक्षा का कारण पूछा। उन्होंने बताया कि वे घोड़ागाड़ी के लिए प्रतीक्षा कर रहे हैं। यह सुनकर राजेन्द्र बाबू क्षुब्ध हो गए और उन्होंने कहा कि यह खेद की बात है कि आप लोग इस उम्र में पैदल न जाकर घोड़ागाड़ी की प्रतीक्षा कर रहे हैं? उन्होंने जरा भी प्रतीक्षा नहीं की अपना सामान उठाया और चल पड़े। अपनी असाधारण प्रखरता के लिए वे विद्यार्थी जीवन

में ही बहुत प्रसिद्ध थे तथा छात्र समुदाय में उनकी व्यापक प्रतिष्ठा थी। उनका अनुसरण करते हुए अन्य बहुत से छात्र उनके साथ चल पड़े। कुछ ही देर बाद सभी लोग सभास्थल पर थे।⁷

1909 में लेखक स्वयं फेडरेशन की स्थायी समिति के मन्त्री नियुक्त हुए। स्वाधीनता आन्दोलन में बिहार के विद्यार्थियों की भूमिका की महत्ता इसी बात से स्पष्ट हो जाती है कि समय क्रम में इस समिति के वार्षिक अधिवेशनों की अध्यक्षता देश की बड़ी-बड़ी विभूतियों ने की। 1914 के नवें अधिवेशन की अध्यक्ष थीं एनी बेसेण्ट और बारहवें अधिवेशन की अध्यक्षता स्वयं महात्मा गाँधी ने की थी, जिसमें सरोजिनी नायडू भी उपस्थित थीं। यह सम्मेलन भागलपुर में हुआ था।

अंग्रेजी के प्रयोग पर लेखक को महात्मा गाँधी की झिड़की

लेखक ने आगे चलकर सम्मेलन के सन्दर्भ में एक और महत्वपूर्ण प्रसंग की चर्चा की है जिससे स्पष्ट है कि गाँधी जी स्वाधीनता आन्दोलन में हिन्दी भाषा को कितना महत्व प्रदान करते थे। 1916 में समिति का ग्यारहवाँ सम्मेलन हुआ जिसके अध्यक्ष थे प्रोफेसर यदुनाथ सरकार और लेखक उसके स्वागताध्यक्ष। सम्मेलन की परम्परा के अनुसार कार्यक्रम-विवरण-पुस्तिका में लेखक का भाषण भी छपा जो अंग्रेजी में था। लेखक के इस भाषण को पढ़कर गाँधी जी ने समिति के बारहवें सम्मेलन के अध्यक्ष पद से इस पर टिप्पणी करते हुए कहा **यह खेद एवं आश्चर्य का विषय है कि एक दरभंगा निवासी पण्डित ने अपने ही प्रान्त के छात्रवर्ग को अपनी भाषा में सम्बोधित न कर अंग्रेजी भाषा में सम्बोधित किया।** गाँधी जी की इस टिप्पणी का लेखक पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि उन्होंने उसी समय से यह निर्णय लिया कि अब से वे कचहरी के कार्यों को छोड़कर सार्वजनिक जीवन में अंग्रेजी का प्रयोग नहीं करेंगे और उन्होंने इसके पालन में आजीवन कभी कोई चूक नहीं की।

1908 तक देश के वातावरण में व्यापक राजनीतिक सरगर्मी आ चुकी थी। बंग-विभाजन का विक्षोभ घना होकर देश की स्वाधीनता के निमित्त संघर्ष का व्यापक रूप लेता जा रहा था, किन्तु इसके कुछ और भी महत्वपूर्ण पहलू थे। लेखक ने उनमें से एक ऐसे ही प्रसंग की चर्चा की है जिसका उल्लेख अन्यत्र नहीं है। इसी वर्ष प्रथम बिहार प्रान्तीय सम्मेलन हुआ। इसके अध्यक्ष थे बैरिस्टर अली इमाम तथा स्वागत समिति के मन्त्री थे, डिप्टी कलक्टर पद से अवकाश प्राप्त बाबू ब्रह्मदेव नारायण। बिहार में वे राममोहन राय के विचारों के एकमात्र अनुयायी थे। इन्हीं की प्रेरणा से यह सम्मेलन हुआ था। इसका आयोजन वर्तमान गाँधी मैदान के उत्तर ओर के एक मकान में हुआ था। यहाँ देशभक्त सोसायटी के प्रतिनिधि बाबू सूर्यनारायण भी उपस्थित थे तथा उन्होंने कांग्रेस के खुले अधिवेशन में औपचारिक रूप से विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का प्रस्ताव रखा। इस सभा में उन्होंने बहिष्कार और **स्वराज्य**

विषय पर अपना ओजस्वी भाषण दिया। इस प्रस्ताव का समर्थन मात्र मिस्टर अली हसन, भागलपुर के दीपनारायण सिंह तथा गया के बाबू परमेश्वर लाल ने किया। प्रस्ताव स्वीकृत नहीं हुआ। इस अधिवेशन में श्री सच्चिदानन्द सिन्हा भी उपस्थित थे, जो बाद में सिन्हा साहब के नाम से प्रसिद्ध हुए। अधिवेशन की समाप्ति के पश्चात उन्होंने सूर्यदेव बाबू से व्यंग्य में कहा **सूर्यदेव इतना माथा क्यों गर्म करते हो? हम लोगों की बात पर भी ध्यान दो।** I have travelled far. मैं बहुत सफर कर चुका हूँ। उनके ऐसा कहते ही सूर्यदेव बाबू ने कहा **उससे क्या? जहाज के भिस्ती भी बहुत दूर तक सफर करते हैं।**⁸

गाँधी जी तथा बालगंगाधर तिलक

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में इस देश में दो प्रकार की विचारधाराएँ प्रचलित थीं। एक पक्ष का मानना था कि हमें राजनीतिक अधिकार विषयक अपनी माँग संविधान के प्रावधानों के अन्तर्गत ही रखना चाहिए, जबकि दूसरा पक्ष यह मानता था कि एक पराधीन राष्ट्र की मुक्ति के लिए उस देश के तत्कालीन संविधान वांछनीय नहीं हो सकते। प्रथम विचारधारा के अनुयायी गोपालकृष्ण गोखले आदि थे तथा दूसरी विचारधारा के पक्षधर थे बालगंगाधर तिलक। गाँधी जी प्रारम्भ में गोखले जी के त्याग तथा स्वार्थ रहित भक्ति से प्रभावित थे तथा उन्हें अपना गुरु मानते थे, किन्तु जब वे स्वयं देश की राजनीति में उतरे तो उनसे काफी आगे चले गए। जिन दिनों गाँधी जी भारत की सक्रिय राजनीति में उतरे उसके कुछ ही समय बाद गोखले जी का निधन हो गया तथा तिलक भी बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सके।

गाँधी जी तथा तिलक की विचारधाराओं में अन्तर था। दोनों गीता के उपदेशों से प्रभावित थे, परन्तु दोनों की गीता की समझ अलग-अलग थी। गाँधी जी के जीवन का सिद्धान्त था त्याग, सत्य और अहिंसा। वे, मन, वचन और कर्म से अहिंसा के एकनिष्ठ पुजारी थे और अपने जीवन को भी उससे अलग नहीं मानते थे, जबकि तिलक सत्य और अहिंसा की समयोचित व्याख्या के पक्षधर थे। दोनों की सत्यनिष्ठा के स्वरूप को लेखक ने महाभारत की एक कथा के माध्यम से स्पष्ट किया है एक तपस्वी जहाँ बैठे थे वहीं उन्होंने किसी भयभीत व्यक्ति को छुपते हुए देखा। कुछ ही देर बाद एक नरपिशाच हाथ में अस्त्र लिए उसे ढूँढ़ता हुआ आया। नरपिशाच ने तपस्वी से पूछा कि क्या उन्होंने किसी व्यक्ति को छुपते हुए देखा है? वहाँ बैठा हुआ तपस्वी असमंजस में पड़ गया। उसकी समस्या यह थी कि यदि वह सत्य बोलता है तो छुपा व्यक्ति मारा जाएगा और यदि यह कहता है कि उसने नहीं देखा तो उस पर झूठ बोलने का दोष लगेगा। लेखक के मतानुसार यदि उस तपस्वी की जगह तिलक होते तो उनका उत्तर होतानहीं उन्होंने किसी को नहीं देखा। उस व्यक्ति की

प्राणरक्षा के लिए आपद्धर्म यही है। परन्तु यदि वहाँ गाँधी जी होते तो उनका उत्तर होता **हाँ, हाँ मैं जानता हूँ कि वह कहाँ छुपा है, परन्तु यह तुम्हें बताऊँगा नहीं। इसके लिए मुझे स्वयं मारे जाने में कोई संकोच नहीं होगा।⁹**

लेखक के अनुसार संकट के समय गाँधी जी कई बार बुद्धि का सहारा न लेकर प्रार्थना में संलग्न हो जाते थे। कई बार वे ऐसे निर्णय ले लेते जो साधारण आदमी सोच भी नहीं सकता था। लेखक ने नोआखाली के दंगे के समय गाँधी जी के एक ऐसे ही निर्णय की चर्चा की है।

अहिंसा के प्रयोग का एक रोमांचकारी पल

भारतीय संविधान जब तक बनकर तैयार नहीं हुआ तब तक अंग्रेजी सरकार के आदेश के अनुसार ही भारतीय शासन पद्धति में परिवर्तन किए गए। इसके अनुसार ही सम्पूर्ण भारतीय मन्त्रिमण्डल बना। अंग्रेजी सरकार का प्रस्ताव था कि काँग्रेस तथा मुस्लिम लीग दोनों को शासन का भार दिया जाए। मिस्टर जिन्ना आरम्भ में इस मन्त्रिमण्डल में शामिल होने को तैयार नहीं हुए। उनका मत था कि मन्त्रिमण्डल में काँग्रेस और मुस्लिम लीग के सदस्यों की संख्या बराबर होनी चाहिए। इसके विपरीत काँग्रेस अपने को ही देश का प्रतिनिधि मानती थी, क्योंकि इसमें भिन्न-भिन्न धर्मों और सम्प्रदायों के लोग सम्मिलित थे। किन्तु, जिन्ना साहब इसे मात्र हिन्दुओं की संस्था मानते थे। जिन्ना से प्रेरित मुस्लिम लीग देश को दो टुकड़ों में बाँटकर एक टुकड़े को मुसलमानों का हितसाधक देश बनाने के पक्ष में था। अन्ततः ब्रिटिश सरकार ने काँग्रेस को ही मन्त्रिमण्डल बनाने का भार सौंपा तथा काँग्रेस ने जवाहरलाल नेहरू के प्रधानमन्त्रित्व में अपना मन्त्रिमण्डल गठित किया।

इसकी प्रतिक्रिया में मुस्लिम लीग ने डाइरेक्ट एक्सन की शुरुआत की। फलस्वरूप पहले बंगाल में हिंसा भड़की। बहुत बड़ी संख्या में हिन्दू मारे गए। प्रशासन उदासीन रहा। कुछ अधिकारी प्रच्छन्नतः इसे अपना समर्थन देते रहे। सरकार की उदासीनता से जनता में विद्रोह फैल गया।

गाँधी जी कलकत्ता आए तथा मुख्यमन्त्री सुहरावर्दी के यहाँ अतिथि बनकर रुके। इससे कई हिन्दू युवकों के मन में विक्षोभ हुआ और वे गाँधी जी को मार डालने के लिए सुहरावर्दी के निवास स्थान पर पहुँचे। गाँधी जी को इसकी सूचना मिली। गाँधी जी ने उस अवसर पर जो निर्णय लिया वह अभूतपूर्व था। उस समय सुहरावर्दी घर पर नहीं थे। गाँधी जी आवास के बाहर खड़े शस्त्रसज्जित युवकों के सामने जाने को तैयार हो गए। सुहरावर्दी के घर के लोगों ने उन्हें बहुत रोका। वे लोग गाँधी जी के व्यक्तित्व से पूरी तरह परिचित नहीं थे। सत्य और अहिंसा की शक्ति में गाँधी जी का अटूट विश्वास था। वे ऐसी हिंसात्मक चेष्टाओं को रोकने के लिए अपने प्राणों की

बलि देने के लिए तैयार रहते थे। गाँधी जी किसी के रोके नहीं रुके और बाहर निकलकर उन क्रुद्ध युवकों के सामने जाकर खड़े हो गए। उस समय उनके दाहिनी ओर सुहरावर्दी की कन्या खड़ी थी और बाँई ओर एक अन्य कन्या। निःशस्त्र गाँधी जी को दो कन्याओं के साथ अपने सामने अचानक खड़ा पाकर युवक स्तम्भित एवं किंकर्तव्यविवृद्ध रह गए और उनका क्रोध क्षमायाचना में परिवर्तित हो गया।¹⁰ वे युवक न मात्र सुहरावर्दी के आवास पर आक्रमण करने से विरत हो गए बल्कि वे लोगों में घूम-घूमकर शान्ति प्रचार में लग गए, जिससे धीरे-धीरे कलकत्ता का वातावरण शान्त होने लगा।

एक बार पटना के बैरिस्टर प्रियरंजन दास ने लेखक को बताया कि इस घटना के कुछ दिनों पश्चात वे कलकत्ता गए थे। वहाँ उन्हें एक पार्टी में सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित किया गया था। उस पार्टी में अधिकतम संख्या अंग्रेजों की थी। वहाँ एक प्रमुख अंग्रेज नागरिक ने उन्हें बताया कि पहले वे गाँधी जी को अंग्रेजों का विरोधी मानते थे, परन्तु कलकत्ता में उनकी उपस्थिति से जो असाधारण परिवर्तन आया उससे उन्हें पूरा विश्वास हो गया कि वे किसी के शत्रु नहीं हैं बल्कि वे मानव मात्र के मित्र हैं। यह था गाँधी जी का प्रभाव!

इसी प्रकार उन्होंने नोआखाली के दंगे के भीषण नरसंहार, लूट, बलात्कार की घटनाओं एवं उसकी प्रतिक्रिया में भड़के बिहार के भीषण दंगों की चर्चा की है जहाँ उग्र शस्त्रधारियों के बीच इस निहत्थे वीर सेनानी ने सत्य और अहिंसा की शक्ति सिद्ध कर एक अनुकूल परिवर्तन सुनिश्चित किया। लेखक के ही शब्दों में **अपने निर्णय के अनुसार उन्होंने नोआखाली के लिए प्रस्थान किया। उन्हें नोआखाली कलकत्ता होते हुए जाना पड़ा। कलकत्ता पहुँचने पर उन्हें बालपुर में ठहरना था। मुख्यमन्त्री शहीद सुहरावर्दी के अनुरोध पर उन्हें चार दिनों के लिए कलकत्ता रुकना पड़ा। मुख्यमन्त्री ने उन्हें आश्वासन दिया कि इस बीच वे नोआखाली में शान्ति बहाल करने की चेष्टा करेंगे। कलकत्ता से श्रममन्त्री मौलवी शमसुद्दीन अहमद, संसदीय सचिव नसर उल्लाह, सरकार के प्रतिनिधि के रूप में गाँधी जी के साथ जाने के लिए मनोनीत किए गए। मुख्यमन्त्री भी गाँधी जी के साथ जानेवाले थे। साथ ही उनकी एवं सचिव नसरुल्ला की बेटियाँ भी साथ जाने को उद्यत थीं, किन्तु बंगाल के मुसलमानों को इनका पर्दे के बाहर रहना अप्रिय लगता इसीलिए मुख्यमन्त्री भी चाहते थे कि वे न जाएँ, फलस्वरूप उन्हें अपनी यात्रा स्थगित करनी पड़ी। गाँधी जी कुछ दूर ट्रेन से गए तथा आगे बहुत दूर तक पद्मा नदी में उन्हें स्टीमर से जाना पड़ा। चाँदपुर में पहुँचने पर गाँधी जी के समक्ष एक-एक हिन्दू तथा मुसलमान वर्ग के प्रतिनिधियों का शिष्ट-मण्डल उपस्थित हुआ। उन्होंने अपनी-अपनी युक्तियाँ रखीं जिनका**

खण्डन कर गाँधी जी ने उनकी शंकाओं का समाधान किया।¹¹ वे उनकी बातों से आश्वस्त हो गए तथा जन साधारण में आत्मरक्षा की आशा जाग उठी। गाँधी जी बलात्कार से किए गए धर्म परिवर्तन को लज्जाजनक मानते थे साथ ही वे इस बात के भी विरोधी थे कि कोई व्यक्ति मात्र आतंकित होकर बंगाल छोड़कर कहीं और बस जाए। मुसलमानों की आबादी सर्वत्र बहुसंख्यक नहीं थी। उनकी मूल चिन्ता यह थी कि यदि इस प्रकार की भावना को कहीं अन्यत्र से प्रोत्साहन मिल गया तो विनाशलीला और भी भयावह हो सकती है।

गाँधी जी नोआखाली में ही थे कि उन्हें सूचना मिली कि यहाँ की प्रतिक्रिया में बिहार में भी दंगा छिड़ गया। किन्तु सरकार की सतर्कता तथा पण्डित जवाहरलाल के वहाँ पहुँच जाने से प्रतिशोध की यह आग अधिक नहीं फैल सकी। यद्यपि नोआखाली के दंगे को मुस्लिम लीग का प्रोत्साहन प्राप्त था तथापि उस समय ऐसे कई मुसलमान नेता थे जो इस प्रकार के हिंसात्मक उपाय से निर्मित पाकिस्तान के पक्ष में नहीं थे।

गाँधी जी बिहार में लम्बे अरसे तक रहे, परन्तु नोआखाली का गुस्सा लोगों के भीतर इतना था कि पंजाब भी अशान्त हो गया। इसी बीच दिल्ली के बड़े लाट बेबल का लन्दन स्थानान्तरण कर दिया गया और लार्ड माउण्टबेटेन दिल्ली के नए लाट बने। उन्होंने आते ही घोषणा की कि वे भारत में सम्राट के अन्तिम प्रतिनिधि हैं। उस घोषणा में यह स्पष्ट संकेत था कि उन्हीं के शासनकाल में भारत पूर्णतः स्वतन्त्र हो जाएगा। ऐसी स्थिति में कांग्रेस के लोगों की यही इच्छा थी कि गाँधी जी दिल्ली में ही रहें ताकि आवश्यकता पड़ने पर उनसे विचार-विमर्श किया जा सके। यद्यपि गाँधी जी मानते थे कि **अखण्ड हिन्दुस्तान या पाकिस्तान** बन भी जाए तो भी किसी देश में मात्र एक ही सम्प्रदाय या धर्मावलम्बी का रहना स्वाभाविक नहीं हो सकता। हर हालत में हर जगह विविध धर्मावलम्बियों को एक साथ रहना पड़ेगा। यदि स्वतन्त्रता प्राप्त के बाद भी भिन्न-भिन्न जाति, सम्प्रदाय, धर्म और लोगों के बीच सौमनस्य नहीं रहा तो स्वतन्त्रता को बहुत दिनों तक बचाए रखना कठिन होगा। गाँधी जी इसी कारण से बंगाल और बिहार की समस्याओं को छोड़कर दिल्ली जाना नहीं चाहते थे। किन्तु पंजाब में भी अशान्ति फैल जाने के कारण वे दिल्ली जाने को तैयार हो गए। गाँधी जी देश की स्वाधीनता से अधिक उसकी रक्षा के लिए चिन्तित रहते थे।

पंजाब के जलियानवाला बाग का नरसंहार, जाँच दल और गाँधी जी की टिप्पणी

लेखक एक स्वतन्त्र वकील का जीवन व्यतीत करना चाहते थे, परन्तु 1933 में दरभंगा महाराज के विशेष अनुरोध पर उन्होंने राज्य के विधि-अधीक्षक का पद स्वीकार किया। देश के स्वाधीन हो जाने पर जमींदारी प्रथा के उन्मूलन के लिए

सरकार कटिबद्ध हो गई। लेखक को तथा स्वयं महाराज को भी यह विश्वास था कि जमींदारी प्रथा को वर्तमान रूप में अब बचाया नहीं जा सकता। विवाद का मुख्य मुद्दा यह था कि जमींदारों को उसके बदले उचित मुआवजा मिले। इस सम्बन्ध में लेखक का प्रस्ताव था कि टैक्स तथा अन्य खर्चों के बाद जमींदारी की आमदनी बहुत परिमित हो जाती है अतः कम-से-कम जएलहाटी को, जो राज्य की मुख्य भू-सम्पत्ति है, एक न्यासमण्डल को सौंप दिया जाए और न्यास इस सम्पत्ति की आय से मिथिला विश्वविद्यालय की देखरेख करे तथा इस सम्पत्ति को जमींदारी उन्मूलन कानून से मुक्त रखने का प्रावधान किया जाए। लेखक ने एतद् विषयक संघर्ष की व्यापक रूप से चर्चा की है। इसी से सम्बद्ध विषयों पर विचार-विमर्श के लिए वे अपने समय के प्रसिद्ध विधिवेत्ता एवं राजनीतिक क्षेत्र में भी समान रूप से प्रतिष्ठित श्री जयकर¹² से मिले। श्री जयकर उन दिनों मुम्बई छोड़कर पूना चले गए थे। वही पूना विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए चलनेवाले आन्दोलन के प्रवर्तक भी थे। उन्हीं के अदम्य उत्साह से पूना विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। वही इस विश्वविद्यालय के प्रथम उपकुलपति हुए। प्रयाग के सर तेजबहादुर सप्रू तथा जयकर उदारतापन्थी नेताओं में अग्रगण्य थे। ये लोग देश के राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए सैवधानिक आन्दोलन के पक्षधर थे। गाँधी जी के व्यक्तित्व में अपार श्रद्धा रखने के बावजूद वे उनके सत्याग्रह-आन्दोलन को अवैध मानते थे। उन्होंने लेखक को 1919 के जलियानवाला नरसंहार विषयक एक मार्मिक प्रसंग सुनाया। तत्कालीन नियमानुसार किसी भी जनसभा को आयोजित करने के पूर्व सरकार की अनुमति आवश्यक थी। यदि ऐसा नहीं किया गया हो तो सरकार को शान्ति की स्थापना के लिए या उस सभा को भंग करने के लिए बल प्रयोग का अधिकार प्राप्त था। जलियानवाला बाग नामक स्थान में सरकार की इस आज्ञा का तिरस्कार करते हुए एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया गया था। वहाँ हजारों की संख्या में लोग एकत्रित हुए। इस सभा के लोगों को कोई सूचना या चेतावनी दिए बिना या भीड़ को तितर-बितर करने की आरम्भिक छोटी-मोटी कार्रवाई के बिना ही जेनरल डायर ने उन पर गोलियों की वर्षा कर दी। इस अमानुषिक हत्याकाण्ड के विरुद्ध पूरे देश में विश्वोभ व्याप्त हो गया। इस घटना की पूर्णरूपेण जाँच के लिए कांग्रेस की ओर से एक जाँच कमेटी का गठन किया गया। इसके प्रमुख सदस्य थे मोतीलाल नेहरू, कलकत्ता के चित्तरंजन दास तथा जयकर। इन लोगों ने घटनास्थल पर अनेक साक्षी लोगों के बयान लिए और प्रतिवेदन का मसविदा तैयार किया। इसमें यह बताया गया था कि अधिकारी सभा के काफी पहले ही लोगों को गोलियों से भून देने का निर्णय ले चुके थे। इसीलिए लोगों को वहाँ इतनी बड़ी संख्या में एकत्रित होने दिया गया तथा सभा आरम्भ होते ही लाठी या अश्रुगैस का प्रयोग न कर सीधे उन पर आकस्मिक रूप से गोलियों की वर्षा कर दी गई। गाँधी

जी ने मसविदा देखकर कहा कि यह समीचीन नहीं लगता कि लोगों को वहाँ जानबूझकर इसलिए जमा होने दिया गया कि बड़ी संख्या में उनका संहार किया जा सके। गाँधी जी की इस उक्ति पर मोतीलाल नेहरू ने तुरत उत्तर दिया **गाँधी जी, इस कमेटी में हम लोग अर्थात् मैं, चित्तरंजन दास और जयकर तीनों अनुभवी वकील हैं और हम लोगों की इस विषय में एक राय है।** इसकी प्रतिक्रिया में गाँधी जी ने कहा **मुझे मालूम है कि आप लोग बहुत पुराने अनुभवी और बड़े वकील हैं, किन्तु यह मालूम होना चाहिए कि इस विषय में आपकी हैसियत यहाँ अधिवक्ता की नहीं है, इस विषय में आपका कार्य यहाँ न्यायाधीश जैसा लगता है।**¹³ श्री जयकर ने कहा कि इस विषय पर हम लोग चुप रह गए और हमें अपने निर्णय के मसविदे में संशोधन करना पड़ा। मसविदा जाँच के परिणामों के अनुसार यथावत प्रस्तुत नहीं किया जा सका।

भण्डारकर प्राच्यविद्या शोध संस्थान

दूसरे दिन लेखक सुप्रसिद्ध भण्डारकर संस्थान देखने गए। रविवार का दिन था। दरवान ने बताया कि आज संस्थान बन्द है। फिर भी लेखक ने एक बार प्रयास करना उचित समझा। डॉक्टर बेवलेकर जी से उसकी मुलाकात 1948 में दरभंगा में आयोजित प्राच्यविद्या सम्मेलन में हो चुकी थी। वे संस्थान के पास ही रहते थे। उन्होंने दरवान के द्वारा बेवलेकर जी के पास अपने आने का सन्देश भेजा। सूचना पाकर वे स्वयं आए और उन्होंने संस्थान खुलवा दिया। उन दिनों महाभारत के शान्ति पर्व का सम्पादन चल रहा था। वे उसके प्रधान सम्पादक थे। डॉ. बेवलेकर ने लेखक को बताया कि किस प्रकार महाभारत के विभिन्न हस्तलेखों की तुलना और वर्गीकरण का कार्य किया जाता है तथा उन्होंने वह प्रेस भी दिखाया जहाँ केवल महाभारत ही छपता था।¹⁴

दुख है कि इस महान संस्थान में 22 दिसम्बर 2003 को कुछ युवकों ने उच्छृंखलतापूर्वक एक वरिष्ठ संस्कृत विद्वान श्रीकान्त बाहुलकर जी के मुँह पर कालिख मला। उनका आरोप था कि उन्होंने एक अमेरिकन इतिहासकार प्रोफेसर विलियम जेम्स लेन के आग्रह पर कुछ संस्कृत तथा अन्य ग्रन्थों के अर्थ स्पष्ट किए जिसका उसने अपने ग्रन्थ 'शिवाजी : हिन्दू किंग इन इस्लामिक इण्डिया' में उपयोग किया तथा लेखक ने अपनी पुस्तक की भूमिका में इसके लिए अन्य लोगों के साथ ही श्री बाहुलकर जी के प्रति सहायता के लिए अपना आभार व्यक्त किया। लेन ने अपनी खोज के आधार पर पुस्तक में शिवाजी के प्रति कुछ आपत्तिजनक निष्कर्ष प्रस्तुत किए थे। इस प्रतिवाद का यहीं अन्त नहीं हुआ, बल्कि पाँच जनवरी को कुछ अन्य युवकों ने संस्थान पर आक्रमण कर उसके मूल्यवान धरोहरों में कुछ को इतनी क्षति पहुँचाई कि उसकी भरपाई कभी नहीं हो सकती।¹⁵

भारत की स्वाधीनता के प्रति सहानुभूतिशील ब्रिटिश अधिकारी

लेखक ने भारत के स्वाधीनता आन्दोलन के प्रति सहानुभूतिशील कुष्ठेक वरिष्ठ ब्रिटिश अधिकारियों की चर्चा की है, जिनमें दरभंगा के तत्कालीन जिला मजिस्ट्रेट आर्द. सी. एस. मिस्टर डिकसन प्रमुख हैं। 1930 में लेखक दरभंगा नगरपालिका के अध्यक्ष थे। वहाँ उन दिनों अवज्ञा आन्दोलन बड़े जोर-शोर से चल रहा था। उसका नेतृत्व कर रहे थे वकील धरणीधर बाबू। फौजधारी धारा 144 के अनुसार मजिस्ट्रेट ने यह आज्ञा जारी की कि बिना सरकार की पूर्व अनुमति के कोई भी जुलूस या प्रदर्शन गैरकानूनी माना जाएगा। इस आज्ञा के उल्लंघन के लिए स्थानीय काँग्रेसी नेताओं ने लहेरिया सराय से जुलूस निकालने का निर्णय लिया। इस जुलूस के आगे-आगे वरिष्ठ वकील धरणीधर बाबू तथा रामचरण बाबू थे। जुलूस कुछ ही आगे बढ़ा था कि इसे भंग करने के लिए पुलिस ने लाठीचार्ज किया। धरणीधर बाबू घायल हो गए। इस घटना के कुछ दिनों बाद नगरपालिका के कार्य से लेखक का जिला मजिस्ट्रेट डिकसन साहब से मिलना हुआ। उन्होंने लेखक से कहा कि वे धरणीधर बाबू को ऐसा करने से रोक सकते थे। उन्हें धरणीधर बाबू का गिरफ्तार होना अच्छा नहीं लगा। मजिस्ट्रेट से ऐसा सुनकर लेखक को आश्चर्य हुआ। धरणीधर बाबू के जेल चले जाने पर स्वयं लेखक उस आन्दोलन का संचालन करते रहे। पुलिस सुपरिटेण्डेण्ट लेटेन लेखक को गिरफ्तार करना चाहता था। उसका तर्क था कि इससे आन्दोलन में शिथिलता आएगी, परन्तु निक्सन साहब ने इसकी अनुमति नहीं दी।

1931 में लॉर्ड अरविन, तेज बहादुर सप्रू तथा जयकर के बीच एक राजनीति विषयक समझौता होने के कारण काँग्रेस द्वारा आन्दोलन स्थगित कर दिया गया। डिकसन साहब छुट्टी लेकर अपने देश आयरलैण्ड चले गए और 1932 में वापस लौटे। इस बार उनकी नवविवाहिता पत्नी भी उनके साथ थीं। डिकसन साहब ने लेखक को अपने घर आने का निमन्त्रण दिया। वहाँ जाने पर उन्हें मालूम हुआ कि डिकसन साहब की पत्नी आयरलैण्ड के एक प्रतिष्ठित परिवार की महिला हैं। उसी समय डिकसन साहब ने उन्हें बताया कि वे नौकरी छोड़कर सदा के लिए आयरलैण्ड जा रहे हैं। कारण बताते हुए उन्होंने कहा कि उनकी पत्नी यहाँ के मच्छरों और गर्मी से बहुत परेशान रहती हैं। उन दिनों आयरलैण्ड में स्वाधीनता आन्दोलन चल रहा था। उनकी पत्नी इस आन्दोलन के प्रति सहानुभूतिशील थीं। भारत में भी विदेशी शासन के द्वारा स्वाधीनता आन्दोलन का दमन उन्हें पसन्द नहीं था। अतः उन्होंने अपने पति से अनुरोध किया कि वे यह नौकरी छोड़ दें। इसी सद्भावना से प्रेरित होकर डिकसन साहब ने नौकरी छोड़ दी और आयरलैण्ड चले गए तथा वहीं बैरिस्टरी करने लगे। उसके कुछ दिनों बाद एक अन्य आर्द. सी. एस. अधिकारी मिस्टर रसलक ने, जो स्वयं भी आयरलैण्ड के निवासी थे, बताया कि आयरलैण्ड में दो दल देश की स्वाधीनता के लिए प्रयत्नशील हैं। उनमें भेलेरा (Develera) उग्रपन्थी दल है जो देश की पूर्ण

स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्नशील है। मिस्टर डिक्सन उसी मार्ग के अनुयायी हैं। मिस्टर रसलक स्वयं कौसग्रेव विचारधारा के अनुयायी थे, जिसकी मान्यता थी कि आयरलैण्ड स्वतन्त्र होकर एक उपनिवेश के रूप में ब्रिटिश शासन के अधीन रहे। अब लेखक के सामने यह रहस्य खुल गया कि मिस्टर डिक्सन को धरणीधर बाबू का गिरफ्तार होना क्यों बुरा लगा था।¹⁶

भाषा

राजनीति के साथ-साथ लेखक भाषा साहित्य और पत्रकारिता की गतिविधियों से भी निकटता से जुड़े रहे। देश की स्वाधीनता के लिए संघर्ष के साथ ही वह समय भाषा के रूप में हिन्दी का अपनी सत्ता के लिए उन विरोधी तत्वों से संघर्ष का भी था जो इसकी सत्ता को पूरी तरह समाप्त कर देना चाहते थे। लेखक ने यहाँ उसके चारों ओर की चुनौतियों और उन राजनीतिक मोहरों का निकटस्थ जायजा लिया है जिन पाशों को विछिन्न करते हुए हिन्दी को अपने विकास की यात्रा सम्पन्न करनी पड़ी।

श्री गिरीन्द्रमोहन मिश्र जी ने 1911 के अक्टूबर मास में वकालत के पेशे में प्रवेश किया। उन दिनों कचहरियों की भाषा फारसी थी, जिसका जनसाधारण से दूर-दूर का भी सम्बन्ध नहीं था। कचहरियों में प्रयोग में आनेवाली भाषा बहुत ही दुरूह थी। लेखक के ही शब्दों में **वकालती पेशा में प्रवेश करने के पूर्व मैं फारसी भाषा से अनभिज्ञ था। कचहरी में प्रचलित भाषा की मुझे जानकारी नहीं थी। एक इजलास से दूसरे इजलास में जाते समय अथवा किसी कार्य से किसी दूसरे न्यायालय, मुख्यतः मुन्सिफ के न्यायालय में जाने पर मुन्सिफ के चपरासी को साएल मसीउल अलह कहकर पुकारते सुनकर मैं दंग रह जाता। कुछ ही दिनों में यह बात मेरी समझ में आ गई कि साएल सवाल करनेवाले को कहते हैं अर्थात् जिसने न्यायालय में आवेदन दिया हो तथा मसीउल अलह कहते हैं साएल के प्रतिपक्षी को। इस तरह न्यायालय में अर्जादावी अथवा बयान तहरीरी अथवा किसी अन्य प्रकार के मसविदे की भाषा देखकर मुझ जैसे स्कूल-कॉलेज में द्वितीय भाषा के रूप में हिन्दी तथा संस्कृत पढ़े विद्यार्थियों को कठिनाई होती थी।¹⁷**

लेखक 1926 से 1929 तक बिहार-उड़ीसा की व्यवस्थापिका के सदस्य रहे। उन्हीं दिनों 1928 में साइमन कमीशन आया जिसका काँग्रेस ने बहिष्कार किया और अपने सदस्यों को व्यवस्थापिका सभा से बाहर बैठने का आदेश दिया। इस समय परिषद में अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय पर बहस चल रही थी। विषय था कचहरियों में कामकाज की भाषा क्या होउर्दू या हिन्दी? काँग्रेस के सदस्यों के सभा से बाहर

बैठने के कारण हिन्दी का अहित हो सकता था। इन सदस्यों ने परिषद से अनुरोध किया कि यह बहस काँग्रेस के सदस्यों की उपस्थिति में की जाए। किन्तु, यह अनुरोध स्वीकार नहीं किया गया और काँग्रेस के सदस्यों की अनुपस्थिति में ही बहस पूरी कर उर्दू के पक्ष में प्रस्ताव पास कर दिया गया। यह साजिश थी। परिषद में प्रस्ताव स्वीकृत होने के बावजूद एक सदस्य गणेशदत्त बाबू इस प्रस्ताव को सरकार से निरस्त कराने के लिए प्रयत्नशील हो गए। एक प्रतिवेदन तैयार किया गया तथा उसी दिन परिषद से बाहर बैठे समस्त सदस्यों का हस्ताक्षर लेकर उसे सरकार के पास भेज दिया गया। सारतः वह प्रतिवेदन कुछ इस प्रकार था

यदि हम लोग परिषद की इस बहस के समय उपस्थित होते तो यह प्रस्ताव अस्वीकृत हो जाता।

यह प्रस्ताव जन साधारण के लिए असुविधाजनक है।

इस प्रतिवेदन की अनुकूल प्रतिक्रिया हुई और कोर्ट में उर्दू के प्रयोग का प्रस्ताव पारित नहीं हो सका।¹⁸

1935 के पहले तक कचहरी की भाषा फारसी थी। 1935 में पहली बार सरकारी आज्ञा से फारसी हटा ली गई तथा उसकी जगह हिन्दी रखी गई। परन्तु, बहुत दिनों तक यह हिन्दी फारसी के भार से लदी रही। इस सम्बन्ध में लेखक ने अपने समय के मसौदा तैयार करने में माहिर एक वकील बाबू रामधारी सिंह के एक मसौदे का छोटा-सा अंश उदाहरण के रूप में रखा है **वेदू जुवोमिए सिलसिले अदालत हक रासी फिदवी मुदै गैरमुमकीन है पस नालिश हाजा है।¹⁹** इस वाक्य में हिन्दी की उपस्थिति अदद एक अक्षर 'है' दर्सा रहा है। यदि यहाँ 'है' की जगह **अस्त** रख दिया जाए तो पूरा वाक्य विशुद्ध फारसी का हो जाएगा। इस वाक्य का अर्थ है क्योंकि अदालत की शरण लिए बिना आवेदक को अधिकार मिलना सम्भव नहीं इसलिए आवेदन किया गया है। उन दिनों इसी प्रकार के मसविदे को सम्मानपूर्ण मसविदा माना जाता था। सरल हिन्दी में प्रस्तुत मसौदा प्रतिष्ठित वकीलों की दृष्टि में हास्यास्पद था। परन्तु, अंग्रेज इस स्थिति की अस्वाभाविकता को समझते थे। इस सन्दर्भ में लेखक ने एम. डब्लू. फैलन का कोश²⁰ उद्धृत किया है जिसकी भूमिका में उन्होंने भाषा में अस्वाभाविक एवं अप्रचलित शब्दों के अवाञ्छित प्रयोग पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि **माँ, बहन, बाप अथवा पिता जैसे लोकप्रचलित शब्दों को निकालकर उनकी जगह कानूनी लेख एवं पत्रादि में बरादर, हमसीर, पेदर तथा मदर शब्द का प्रयोग किसी भी दृष्टि से न्यायसंगत तथा युक्तिसंगत नहीं है।** स्वयं लेखक ने भी उन्हीं दिनों पटना से प्रकाशित पत्रिका **पाटलिपुत्र** में इसी विषय पर एक लेख प्रकाशित कराया था। स्पष्ट है कि न्यायालय में हिन्दी को अपने स्वाभाविक प्रयोग तक की यात्रा सम्पन्न करने में काफी समय लगा। उसका रास्ता

अनेक दुरभिसन्धियों से भरा था। उसका यह संघर्ष आज भी किसी-न-किसी स्तर पर जारी है।

जब भारतभारती की एक प्रार्थना को राजद्रोहपूर्ण घोषित किया गया

1924 में लेखक काँग्रेस के प्रत्याशी के रूप में जिला परिषद के चुनाव में सफल होकर परिषद की शिक्षा समिति के सदस्य नियुक्त हुए। इसके कुछ समय बाद ही एक रोचक घटना घटित हुई। लेखक के अध्यक्ष बनते ही परिषद के आय-व्यय की समीक्षा की गई और पाया गया कि परिषद को खर्च के लिए जो राशि प्रदान की गई थी उसके बड़े भाग का उपयोग ही नहीं किया गया है। समीक्षा के पश्चात यह तय किया गया कि जिले के भिन्न-भिन्न स्थानों में माध्यमिक स्कूल खोले जाएँ साथ ही विद्यालयों के पाठ्यक्रम में भी नवीनता लाई जाए। इस समय हिन्दी के कवि मैथिलीशरण गुप्त की पुस्तक **भारत भारती** व्यापक रूप से लोक प्रतिष्ठित हो चुकी थी तथा सामयिक स्थितियों के अनुकूल एवं उपयोगी थी। इस पुस्तक के अन्त में कवि की एक रोचक, हृदयग्राही तथा उत्साहवर्धक कविता ईश्वर वन्दना शीर्षक से संकलित थी। निर्णय लिया गया था कि यह कविता डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के प्रत्येक विद्यालय में कार्याम्भ के पहले प्रार्थना के रूप में गायी जाएगी। तदर्थ इस कविता की हजारों प्रतियाँ छपवाकर सर्वत्र भेज दी गई तथा कुछ प्रतियाँ बोर्ड के कार्यालय में भी रख ली गईं। इस कविता की अन्तिम पंक्ति थी **परमेश पिण्ड छोड़ाए।** इस कविता का अंग्रेजी अनुवाद सरकार को भेजा था। यह भार डिस्ट्रिक्ट इंस्पेक्टर को दिया गया। वे मुसलमान थे, अतः इस कविता की अन्तिम पंक्ति का अर्थ ठीक से समझ नहीं सके। उन्होंने **परमेश को परदेश** समझते हुए अनुवाद में अर्थ का अनर्थ कर दिया तथा अनुवाद किसी को दिखाए बिना ही अपनी टिप्पणी देकर सीधे स्कूल इंस्पेक्टर के पास भेज दिया। स्कूल इंस्पेक्टर भी मुसलमान थे, अतः वे भी इस चूक को समझ नहीं पाए साथ ही मूल कविता से भी उसे मिलाकर नहीं देखा तथा डिस्ट्रिक्ट इंस्पेक्टर की टिप्पणी के साथ अपनी सहमति व्यक्त करते हुए उसे लोक शिक्षा निदेशक के पास अग्रसारित कर दिया। डाइरेक्टर अंग्रेज थे। उन्हें भी हिन्दी भाषा का ज्ञान नहीं था, न उन्होंने भी किसी हिन्दी के ज्ञाता से सम्मति लेने का कष्ट किया। उन्हें स्कूल इंस्पेक्टर की टिप्पणी स्वाभाविक लगी। उन दिनों सरकार में शिक्षा मन्त्री थे फखरुद्दीन साहब। उन्होंने भी पहले के अधिकारियों की ही भाँति अनुवाद को स्वाभाविक मानते हुए उसे मूल से मिलाकर देखने का कष्ट नहीं किया। सरकार के मन्त्रिमण्डल तथा कार्यकारिणी समिति के सदस्यों की बैठक में यह निर्णय लिया गया कि ईश्वर वन्दना को फौजदारी धारा के अनुसार

राजद्रोहात्मक घोषित किया जाए और इसकी समस्त मुद्रित प्रतियाँ जब्त कर ली जाएँ। इस आदेश के अनुसार पुलिस ने हर जगह से इसकी प्रतियाँ जब्त कर लीं। सरकार के इस निर्णय को चुनौती देते हुए पटना हाईकोर्ट में अपील हुई। उस समय पटना हाईकोर्ट के जज थे मिस्टर कुर्टनी टेरेलेक और जिला परिषद (बोर्ड) की ओर से वकील थे बाबू निरसू नारायण। निरसू बाबू की बहस सुनकर प्रधान न्यायाधीश ने निर्णय देते हुए कहा कि यदि ईश्वर वन्दना राजद्रोहात्मक है तो क्यों नहीं बायबिल को भी राजद्रोहात्मक घोषित किया जाए!²¹

फलतः हाईकोर्ट के आदेश से सरकार की कथित घोषणा निरस्त हो गई और **ईश्वर वन्दना** की प्रार्थना पूर्ववत् प्रातःकाल विद्यालयों के कार्याम्भ के पूर्व प्रतिदिन गूँजने लगी।

पत्र-पत्रिकाएँ

मिश्र जी ने अपने समय की पत्रकारिता के कुछ पृष्ठों की भी अन्तरंग झँकी प्रस्तुत की है जिनसे उनका प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कुछ सम्बन्ध था।

पटना एक्जिवीसन रोड, जो इन दिनों ब्रजकिशोर पथ कहा जाता है, के दक्षिण-पश्चिम ओर के एक मकान के पीछे पं. लक्ष्मी नारायण का निवास स्थान था। पहले यह सम्पत्ति प्रसिद्ध पत्रकार बाबू महेशनारायण जी की थी। बिहार की पत्रकारिता से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है वे इसी मकान से **बिहार टाइम्स** प्रकाशित करते थे। यह पत्र बिहार तथा बिहारियों के स्वत्व की रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहता था। इसमें उन्हें सच्चिदानन्द सिंह का भी सहयोग प्राप्त था। इसी पत्र के प्रभाव का परिणाम था कि लेफ्टिनेंट गवर्नर को कुछ दिनों पटना में रहना पड़ता था। ध्यातव्य है कि उन दिनों बिहार, बंगाल का ही एक भाग था तथा कलकत्ता उसका मुख्यालय था। महेश बाबू का बिहार टाइम्स काफी समय तक चलता रहा। उसके निधन के पश्चात इसे बाबू शिवशंकर सहाय चलाते रहे। कुछ समय पश्चात कुछ अन्य लोगों के प्रयास से बिहारी का प्रकाशन हुआ तथा बाद में बिहार टाइम्स इसी में मिला लिया गया और इसे दैनिक रूप दे दिया गया। इसे राजा कीर्तिनारायण सिंह का आर्थिक सहयोग प्राप्त था। इसके सम्पादक बाबू महेश्वर नारायण प्रयाग कायस्थ कॉलेज के अध्यापक थे। उन्हें बाबू सच्चिदानन्द यहाँ ले आए थे। बिहारी समय-समय पर सरकार को उसकी जन-विरोधी नीतियों पर खरी-खोटी सुनाता रहता था। यह बात बिहार के गवर्नर सर चार्ल्स बेत्ली को बुरी लगती थी। जब उन्हें पता चला कि राजा कीर्तिनारायण सिंह से इसे आर्थिक सहायता मिलती है तो उन्होंने उनके मैनेजर के माध्यम से उन्हें सलाह दी कि वे इस पत्र के सम्पादक को तुरत हटा दें नहीं तो वे उनका अहित कर सकते हैं। इस धमकी से राजा डर गए और उन्होंने बिहारी के सम्पादक महेश्वर नारायण को अपने पद से

हटा कर अपनी जमींदारी का सर्किल मैनेजर बना दिया। यह बात सच्चिदानन्द सिंह को बुरी लगी और उन्होंने अपने प्रयास से उन्हें पटना कॉलेज का रजिस्ट्रार बनवा दिया, जहाँ वे लम्बे समय तक काम करते रहे।

दैनिकपत्र में सरकार के हस्तक्षेप की इस नीति से पटना के सम्भ्रान्त लोगों को बहुत क्षोभ हुआ।

सच्चिदानन्द बाबू के प्रयास से स्वतन्त्र अंग्रेजी पत्र सर्चलाइट का प्रकाशन हुआ। पहले यह सप्ताह में केवल तीन बार प्रकाशित होता था। बाद में उन्होंने बिहार जर्नल्स नामक एक कम्पनी में हिस्सा खरीदने की व्यवस्था की और सर्च लाइट दैनिक के रूप में प्रकाशित होने लगा। बाद में पुनः जब यह पत्र संकटों में घिर गया तब इसे बिरला परिवार ने सम्हाला।²²

लेखक ने सुप्रसिद्ध पत्रिका **मिथिला मिहिर** के जन्म और जीवनयात्रा के उतार-चढ़ाव भरे दिनों की अन्तरंग चर्चा की है। उसके प्रकाशन एवं आर्थिक चुनौतियों के दिनों में उसके जीवन रक्षक संसाधनों के क्षेत्र में लेखक पंडित गिरीन्द्रमोहन मिश्र जी की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। लेखक अपने मित्र कैलू बाबू से मिलने दुलारपुर गए थे। वहीं उनकी मुलाकात अपने पुराने मित्र बाबू सूर्य नारायण से हुई और चर्चाक्रम में एक हिन्दी पत्रिका के प्रकाशन की योजना बनी। इस योजना को मूर्त रूप देने में सबसे बड़ी समस्या आर्थिक साधन जुटाने की थी। अन्ततः तय हुआ कि सहायता के लिए महाराज ने मिला जाए। इसके लिए बाबू तुलापति सिंह से सम्पर्क किया गया। तुलापति बाबू महाराज के सम्बन्धी थे। वे महाराज से मिलने को तो तैयार हो गए, किन्तु एक शर्त रख दी कि इस पत्रिका का चतुर्थांश मैथिली लेखन के लिए समर्पित होना चाहिए। उनका प्रस्ताव मान लिया गया। तुलापति बाबू दरभंगा महाराजाधिराज कामेश्वर सिंह जी से मिले। महाराज को भी यह बात जँच गई और वे उसके प्रकाशन के लिए तैयार हो गए। इसके प्रथम अवैतनिक सम्पादक नियुक्त हुए पंडित विष्णुकान्त शास्त्री। तीन वर्षों तक इस पत्रिका का प्रकाशन मासिक के रूप में होता रहा, बाद में इसे साप्ताहिक बना दिया गया। प्रारम्भ में निर्णयानुसार इसमें मैथिली की सामग्री चतुर्थांश ही रहा करती थी। बाद में इसके प्रचार-प्रसार में शिथिलता आ गई और महाराज ने इसके प्रकाशन से अपना हाथ खींच लिया। इस सूचना से लेखक बहुत आहत हुए एवं स्वयं उनसे सम्पर्क कर अनुरोध किया कि इसका प्रकाशन पुनः जारी कर दिया जाए। महाराज ने सिद्धान्ततः यह प्रस्ताव मान लिया। 1959 में अजमेर में मैथिली महासभा का आरम्भ हुआ। वहाँ औपचारिक रूप से इसके पुनः प्रकाशन का प्रस्ताव रखा गया। वहाँ इस प्रस्ताव का विरोध हुआ, किन्तु उस महासभा में उपस्थित प्रवासी भारतीयों ने उसके प्रकाशन का प्रबल समर्थन किया। कुछ ही दिनों पश्चात लेखक की उपस्थिति में महाराज ने आर्यावर्त के

सम्पादक पंडित श्रीकान्त ठाकुर विद्यालंकार तथा उसके मैनेजर श्री उपेन्द्र आचार्य को बुलाया तथा न्यूज पेपर्स एण्ड पब्लिकेशन्स लिमिटेड कम्पनी की ओर से मिथिला मिहिर के पुनःप्रकाशन का आदेश दिया। मिथिला मिहिर पुनः प्रकाशित होने लगा।²³

पूरी पुस्तक में ऐसे अनेक अछूते विषय या प्रसंग हैं जिनमें से कई यहाँ पहली बार दर्ज हुए हैं। यह पुस्तक मुख्य रूप से स्वाधीनता संघर्ष के दिनों की राजनीति, साहित्य एवं पत्रकारिता के इतिहास के कई अँधेरे कोनों पर रोशनी डालती है।

सन्दर्भ और टिप्पणी

1. महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृ. 149
2. उपरिवत पृ. 146
3. उपरिवत पृ. 147
4. किछु देखल : किछु सुनल, पृ. 39
5. वे वारेन्द्र घोष के दल के सदस्य थे तथा गर्मी की छुट्टी में नियमित रूप से दल का काम किया करते थे। वे लेखक से तीन साल जूनियर थे तथा बिहार के भावी मुख्यमंत्री बाबू श्रीकृष्ण सिंह तथा विद्युत मंत्री रामचरित्र सिंह के सहपाठी थे।
6. मुख्यतः बी.एन. कॉलेज के नाम से विख्यात
7. किछु देखल : किछु सुनल, पृ. 20
8. उपरिवत पृ. 23
9. उपरिवत पृ. 43
10. उपरिवत पृ. 291
11. उपरिवत पृ. 292
12. पूरा नाम मुकुन्दराव जयकर उर्फ बाबा साहेब।
13. किछु देखल : किछु सुनल, पृ. 322
14. उपरिवत पृ. 323
15. विस्तृत चर्चा के लिए पहल-76 (जनवरी-मार्च, 2004) में मदनमोहन तरुण का आलेख विचार और स्वैराचार देखें।
16. उपरिवत पृ. 291
17. उपरिवत पृ. 292
18. उपरिवत पृ. 101-102
19. उपरिवत पृ. 66
20. श्री एम.डब्लू. फैलन के कोश का नाम था 'ए न्यू हिन्दुस्तानी इंग्लिश डिक्शनरी विथ इलस्ट्रेशन्स फ्रॉम हिन्दुस्तानी लिटरेचर एण्ड फोकलोर।

इस कोश में शब्द फारसी लिपि में, अर्थ अंग्रेजी में तथा उदाहरण रोमन लिपि में दिए गए थे। पुस्तक के आरम्भ की विस्तृत भूमिका में हिन्दी की बोलियों पर विस्तार से चर्चा की गई थी। इसका प्रकाशन पहली बार 1879 में हुआ था। श्री फैलन ने इसके अतिरिक्त व्यापार, कानून आदि से सम्बद्ध पारिभाषिक और बोलचाल के प्रयोग में आनेवाले शब्दकोशों की भी रचना की थी।

21. किछु देखल : किछु सुनल, पृ. 96-97
22. उपरिवत पृ. 103-4
23. उपरिवत पृ. 74-77

पता : तारुण्यम, 78 लक्ष्मण अपार्टमेंट, मुकई नगर, खडकवासला, पुणे-411024

भक्ति आन्दोलन और शंकरदेव

डॉ. नन्दकिशोर पाण्डेय*

भक्ति आन्दोलन के सन्दर्भ में हम जिस भक्ति की बात करते हैं, वह वस्तुतः भागवत भक्ति है। भागवत धर्म के प्रचार-प्रसार के साथ ही भक्ति आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ। यह वह भागवत भक्ति थी जो लोकोन्मुखी थी। सामान्यजन को अपने में समेट लेने की जिसमें अद्भुत क्षमता थी। जिसकी भाषा लोकोन्मुख या जनभाषा थी। कालान्तर में यह भावना केवल वैष्णव भक्ति तक सीमित नहीं रही। उसमें शैव, शाक्त के साथ बौद्ध तथा जैन भी जुड़े तथा उससे प्रभावित भी हुए। भक्ति आन्दोलन (13वीं से 16वीं शताब्दी) चार सौ वर्षों तक अपने चरम पर था। जिस भक्ति ने आन्दोलन का स्वरूप ग्रहण किया वस्तुतः उसकी शुरुआत दक्षिण से हुई। आलवार दक्षिण भारत के अत्यन्त प्रतिष्ठित वैष्णव संत हैं। इनका समय दो सौ ई. से नौ सौ ईसवी है। इन आलवारों में सरोयोगिन (पोयगेइय आलवार), महायोगिन् (पेय आलवार), भूत योगिन (भूतत्त आलवार) तथा भक्तिसार (तिरुमन्ऋषय पिरान) प्राचीन हैं। चर्चित आलवारों में शठकोप, मधुरकविय, कुलशेखर पेरुमाल, विष्णुचित्तम और गोदा (अन्दाल) बाद के आलवार हैं। इन सभी आलवारों का सम्बन्ध तमिल प्रदेश से है। आलवारों का वैशिष्ट्य बतलाते हुए कहा गया है कि जो 'ईश्वर ज्ञान के मूलतत्त्व तक पहुँचा है तथा उसी के ध्यान में मग्न रहता है', वही आलवार है।

आलवारों में विभिन्न प्रकार की जातियाँ थी। इनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र तथा उस समय और भी निम्न कही जानेवाली जातियों के लोग थे। आलवारों की रचनाएँ 'नालआयिर दिव्य प्रबन्धम' में संगृहीत हैं। इन्हें तमिल प्रदेश में वेद के समकक्ष माना गया। इनके पद्य मन्दिरों, विवाहोत्सव तथा अन्यान्य प्रसंगों में गाए जाते हैं। इनकी महिमा यह है कि यह यज्ञ और अनुष्ठान में वैदिक मंत्रों के समकक्ष उच्चारित किए जाते हैं। आलवारों ने भक्ति के क्षेत्र में जाति को नहीं माना। यही भक्ति आन्दोलन की प्रमुख विशिष्टता है। 'जाति न पूछो साधु की पूछ लीजिए ज्ञान' वाली पंक्ति का प्रारम्भिक रूप आलवारों के यहाँ दिखता है। "नाम्मालवार शूद्र कुल में उत्पन्न हुआ था। इसकी रचना सबसे अधिक मात्रा में उपलब्ध होती है। इसने 100 पद्यों में

*रीडर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, अरुणाचल विश्वविद्यालय, रोनी हिल्स, ईटानगर।

तिरुवृत्तम, सात पद्यों में तिरुवाशिरियम, 87 पद्यों में तिरुवन्तादि और 1102 पद्यों में तिरुवायमोडि ग्रन्थ लिखे हैं। यह सदैव ध्यान में मग्न रहता था। इसके शिष्य मधुरकवि ने इसे विष्णु का अवतार माना है। कुलशेखर राम का भक्त था। इसके मुख्य ग्रन्थ का नाम पेरुमाल तिरुमोडी है। अन्दाल कृष्ण की भक्त थी और अपने को गोपी समझती थी। देवदासी प्रथा के अनुसार वह श्रीरंगम् के देवता रंगनाथ को समर्पित की गई थी और उन्हीं को अपना पति समझती थी। उसके मुख्य ग्रन्थ तिरुपावई और नच्छियार हैं।¹ अलावारों ने जिस भक्ति-पद्धति का प्रचार किया उसमें लौकिक उपलब्धियों को तुच्छ माना गया है। वहाँ पूजा उपादानों की तुलना में भाव की प्रधानता मानी गई। प्रभु का अनुग्रह और दास्य भाव भी इनकी भक्ति की प्रमुख विशेषता है। आलवारों के पश्चात् दक्षिण भारत में भक्ति-प्रचार आचार्यों ने किया। ये आचार्य भी 'प्रबन्धम' से प्रभावित थे। इसमें प्रमुख रघुनाथाचार्य या नाथमुनि थे। आचार्यों की भक्ति ने वैचारिक प्रौढ़ता प्रदान की। आलवारों की भक्ति में निश्चल हृदय की अभिव्यक्ति थी। "इन आचार्यों के विविध ग्रन्थों में मस्तिष्क-पक्ष की भी प्रौढ़ता दीख पड़ी। इन्होंने मीमांसकों के कोरे कर्मकाण्ड तथा शंकराद्वैतवादियों के ज्ञानकाण्ड का अनेक युक्तियों के साथ खंडन किया और अपने भक्तिकाण्ड के अनुसार प्रसिद्ध वेदान्त-ग्रन्थों का तात्पर्य भी निर्धारित किया। तदनुसार इन्होंने स्मार्तों द्वारा प्रचलित किए गए एक से अधिक देवताओं की पूजन-प्रणाली को अस्वीकार कर एकमात्र विष्णु भगवान की आराधना का प्रचार किया और उसके लिए तीन उच्च वर्गों के अतिरिक्त शूद्रों को भी योग्य ठहराया। शूद्रोंजैसे श्रेणीवालों को विशेषकर 'प्रपत्ति' की व्यवस्था दे दी, जिसका मुख्य अभिप्राय अपने को भगवान की शरण में समर्पित कर उन्हीं की दया मात्र पर पूर्ण भरोसा करना रहा।"²

आलवारों के पश्चात् निंबार्काचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य तथा चैतन्य महाप्रभु ने विभिन्न प्रान्तों में अपनी भक्ति-पद्धति का प्रचार किया। रामानुजाचार्य की भाँति इन आचार्यों ने भी अपने सम्प्रदाय खड़े किए। दक्षिण भारत के आचार्यों ने उत्तरभारत में भक्ति का प्रचार किया। इन्हीं आचार्यों की परम्परा हिन्दी साहित्य में पल्लवित हुई। निम्बार्काचार्य दक्षिण भारत के थे। इन्होंने द्वैताद्वैत सिद्धान्त के आधार पर राधा-कृष्ण की भक्ति प्रतिपादित की। इन्होंने अपनी कर्मभूमि ब्रजमण्डल को बनाया। वृदावन, गोवर्धन और नीमगाँव आदि स्थानों पर घूम-घूमकर अपने सिद्धान्तों का प्रचार किए। इस सम्प्रदाय के प्रमुख कवि श्रीमद् हरिव्यासदेव और परशुराम देव हुए। आचार्य वल्लभ भी दाक्षिणात्य थे। इनका सम्बन्ध काशी से भी था। इनका मत शुद्धाद्वैत और आचारपक्ष पुष्टिमार्ग कहलाता है। वल्लभाचार्य ने ब्रजमण्डल में कृष्णभक्ति को प्रतिष्ठित किया। पुष्टिमार्गीय भक्ति में किसी प्रकार के साधन की आवश्यकता नहीं होती। यह रागानुगा भक्ति है। वल्लभाचार्य द्वारा स्थापित पुष्टिमार्ग का पालन करनेवाले हिन्दी के कवि 'अष्टछाप' के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन आठ कवियों में

चार वल्लभाचार्य के शिष्य थे और चार गोस्वामी विट्ठल नाथ के। वल्लभाचार्य के शिष्य थेकुम्भनदास, सूरदास, परमानन्ददास और कृष्णदास। विट्ठलनाथ के शिष्य थेगोविन्दस्वामी, नन्ददास, छीतस्वामी और चुतुर्भुजदास।

उत्तर भारत में भक्ति का प्रचार करनेवालों में रामानन्द का नाम सर्वोपरि है। इनकी प्रसिद्ध पंक्ति है

“भगति द्राविणी ऊपजी, लाए रामानन्द”

भक्ति के क्षेत्र में रामानन्द ने सबको समान माना। उन्होंने घोषणा की 'जाति पाति पूछे नहीं कोई। हरि को भजे सो हरि का होई।' तथा 'सर्वे प्रपत्तेरधिकारिणो मताः।' इनके शिष्यों में विभिन्न जाति-वर्णों के लोग थे। भक्तमाल में रामानन्द के बारह शिष्यों का वर्णन है। इनके शिष्यों में कबीर (जुलाहा), रैदास (चमार) धन्ना (जाट), सेन (नाई) तथा पीपा (क्षत्रिय) थे। अन्य शिष्य-अनन्तानन्द, सुखानन्द, नरहर्यानन्द, भावानन्द तथा, पद्मावती हैं। रामानन्द के समकालीन मौलाना रशीदुद्दीन ने अपने ग्रंथ 'तजकीर तुल फुकरा' में रामानन्द के शिष्यों की संख्या 500 से भी अधिक बतलाई है। द्वादश शिष्यों का विशेष कृपा पात्र बतलाया है। रामानन्द ने भक्ति के क्षेत्र में जो कुछ भी किया वह तत्कालीन समाज के लिए महत्वपूर्ण घटना थी। रामानन्द और उनके शिष्यों ने हिन्दू समाज के बहुत बड़े हिस्से को टूटने से बचा लिया। समाज की कथित छोटी जातियों में उत्पन्न होने के बावजूद इनका स्वाभिमान काफी ऊँचा था। इन संतों ने भारतीय दर्शन के मूलतत्त्व को अपनी सीधी-सपाट वाणी में अपने पेशे से युक्त शब्दों के द्वारा दैनन्दिन चर्चा के कामों में आनेवाले शब्दों से उपमा, उपमेय ग्रहण कर सर्वजन के लिए सुलभ करा दिया। ये संत काव्यशास्त्र के पंडित नहीं थे। इन्होंने कभी काव्य-शिक्षा के ग्रंथों का अध्ययन नहीं किया था, लेकिन काव्य रचना के लिए इनमें प्रतिभा थी। अपनी बात को सामान्यजन तक सम्प्रेषित करने की कला में सिद्धहस्त थे।

रामानन्द के शिष्यों में संत रैदास जब कहते हैं कि 'जाति ते कोई पद नहीं पहुँचा' तो उनके भीतर का स्वाभिमान बोलता है। रैदास ने कभी जाति नहीं छुपाई। वे आजीवन छुआ-छूत के विरुद्ध संघर्ष रत रहे। वे अपने पदों के अंत में 'कह रविदास चमारा' की घोषणा करते हुए पाखण्ड का पर्दाफाश करते हैं। रैदास हिन्दू या मुसलमान के द्वारा समाज में किए जा रहे पाखण्ड और अपमान वृत्ति को देखकर कभी विचलित नहीं हुए। उनका शिष्य होने में सवर्णों ने भी गर्व की अनुभूति की। 13वीं से 16वीं शदी तक जो भक्ति सम्पूर्ण भारत में व्याप्त हुई उसमें सर्वप्रमुख बात हैसमानता, स्वाभिमान, देशी या जन भाषा तथा श्रमजीवी साधुता। वीर सम्प्रदाय या लिंगायत सम्प्रदाय के प्रवर्तक वसवेश्वर थे। ये कर्नाटक के थे। वसवेश्वर ने

‘अनुभव मंटप’ की स्थापना की। अनुभावी पुरुष केवल आत्मचिंतन नहीं करता था। वह जीविकोपार्जन के लिए शारीरिक परिश्रम भी करता था। इसे वे ईश्वरार्पित कर्म समझते थे। संत लल्ला या लल्लेश्वरी को मेहतर जाति का कहा जाता है। इन्होंने जो कुछ भी कहा वह कश्मीरी भाषा में है। “संत लल्लेश्वरी ने कश्मीर के संरक्षक संत Patron saint of Kashmir शेख नुरुदीन अथवा नन्दऋषि (सं. 1434-1495) को भी प्रभावित किया।”³

भक्ति आन्दोलन की बड़ी उपलब्धि महिला रचनाकारों को उपस्थित करना है। लल्ल के अतिरिक्त कई महत्वपूर्ण महिला लेखिकाएँ इस समय दिखलाई पड़ती हैं। संत चरणदास के शिष्यों की संख्या 52 थी। उनमें इनकी दो प्रमुख शिष्याएँ सहजोबाई और दयाबाई भी थीं। मीराबाई के नाम से पूरा देश परिचित है।

भक्ति आन्दोलन में मुस्लिम संतों की भूमिका उल्लेखनीय है। पहली बार इतनी बड़ी संख्या में मुसलमान संत प्रकाश में आए। इन संतों ने अल्लाह और ईश्वर की एकता को स्थापित किया। ‘दादूपंथ’ ने बड़ी मात्रा में निर्गुण संतों को अपने साथ जोड़ा। दादू का जन्मस्थान गुजरात का अहमदाबाद है। इनकी जाति धुनियाँ थी। इसका मुख्य कार्यस्थान राजस्थान था। इनका सम्प्रदाय ‘परब्रह्म’ सम्प्रदाय कहलाया। दादू के शिष्यों में गरीबदास, रज्जब और सुन्दरदास प्रमुख हैं। इनके विद्वान् शिष्यों ने ग्रन्थों को ग्रंथित करने की नई पद्धति अपनाई। इस पंथ में हिन्दू और मुसलमान दोनों जुड़े। हिन्दू और मुस्लिम राज परिवारों ने भी दादू पंथ के प्रति श्रद्धा व्यक्त की।

भक्ति काल के तमाम संत-सम्प्रदायों का आलोड़न-विलोड़न करने के पश्चात् यह बात ध्यान में आती है कि संतों ने ‘नामजप’ को बहुत अधिक महत्व दिया। कीर्तन पर बल दिया। इन संतों में से अधिकांश मन्दिर और मस्जिद के विरोधी थे। इसके बावजूद वे ‘नाम महिमा’ का प्रतिपादन करते थे। सत्संग, कीर्तन, भजन इनकी साधना का अंग था।

इन्होंने गाने बजाने का अलग यंत्र विकसित किया। भक्ति आन्दोलन की एक बड़ी उपलब्धि बहुत बड़ी मात्रा में छोटी कही जानेवाली जातियों से संतों-भक्तों को आगमन है। इनके भीतर वही स्वाभिमान, निष्ठा और भावना दिखलाई पड़ती है जो सवर्ण कहे जानेवाले संतों-भक्तों के यहाँ है। ये कुछ अधिक ही स्वाभिमानी थे। निर्गुण संतों ने श्रमजीवी साधुता अपनाई। ये अपने श्रम की रोटी खाते थे। कबीर कपड़ा बुनते थे। रैदास जूते बनाते थे। सेन नाई थे।

भक्ति आन्दोलन ने जनभाषा को अपनाया। जो संत पढ़े-लिखे नहीं थे उन्होंने तो जनभाषा में लिखा ही, साथ ही संस्कृत के प्रकांड पंडित कवियों ने भी जनभाषा

में ही लिखा।

तुलसीदास ने घोषणा की

“किरति भनिति भूति भल सोई।

सुरसरि सम सबकर हित होई।”

संस्कृत के विद्वान् होते हुए भी तुलसीदास ने अवधी और ब्रजभाषा में लिखा। उत्तर भारत में जो कार्य रामानन्द ने किया वही कार्य वृहत्तर असम में शंकरदेव ने किया। शंकरदेव ने भी भक्ति के क्षेत्र में सबको समान प्रवेश दिया। शंकरदेव की शिष्य परम्परा में बड़े-बड़े भक्त, समाज सुधारक, कवि और नाटककार उत्पन्न हुए। शंकरदेव की छत्रछाया, आलोक और नेतृत्व में वैष्णव भक्ति असम में फैली। शंकरदेव और रामानन्द की तुलना करते हुए प्रसिद्ध इतिहासकार महेश्वर नियोग ने लिखा है, “It was Ramananda of Northern India (1299-1410), who adopted the medium of the language of the common people for his teaching and gave it the dignity of a classical tongue. Sankardeva also adopted the effective means of propagating the gospel of his faith through Assamese. The Bhagavata Purana formed the mainstay of his cult. This work he studied thoroughly and rendered portions of it into simple Assamese verses, songs and dramas, so that the teaching might appeal to the commonalty.”⁴

शंकरदेव सम्पूर्ण पूर्वोत्तर भारत के महत्वपूर्ण संत कवि हैं। शंकरदेव का पूरा जीवन संघर्षों में बीता। इनका जन्म सन् 1449 ई. को नवगाँव जिले के बरदोवा नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम कुसुमवर भुइयाँ तथा माता का नाम सत्यसन्धा था। इनके पिता जागीरदार थे। वे कुशल संगीतज्ञ थे। इनके पिता के राज्यकाल में कछारियों ने आक्रमण किया। उनके आक्रमणों से बचने के लिए शंकरदेव के पिता को जंगल में छिपना पड़ा था। इनका जन्म भूइयाँ राज्यकुल में हुआ था। जब शंकरदेव छह-सात वर्ष के थे तभी माता-पिता का स्वर्गवास हो गया। बारह वर्ष की अवस्था में इन्हें महेन्द्र कन्दलि की पाठशाला में पढ़ने के लिए भेजा गया। प्रारम्भ में तो विद्यालय से उनका मन उचटा लेकिन सात-आठ वर्षों में ही उन्होंने वेद, उपनिषद, पुराण, तंत्र, तथा योगादि का अध्ययन कर लिया। इक्कीस वर्ष की अवस्था में विद्याध्ययन के पश्चात् घर लौटकर अपने पिता के उत्तराधिकारी के रूप में कुछ दिनों तक इन्होंने राज्य का संचालन भी किया। इनका विवाह सूर्यवती से हुआ। इन्हें एक पुत्री भी हुई। पुत्री के जन्म के कुछ समय बाद ही इनका मन सांसारिक जीवन से उचट गया। उन्होंने अपनी पुत्री का विवाह हरि नामक एक युवक से करने के

पश्चात् बत्तीस वर्ष की अवस्था में (सन् 1481 ई.) में गृह त्याग दिया। उन्होंने तीर्थाटन करने का सोचा। वे तीर्थाटन पर निकल पड़े। उनके साथ 17 लोगों की एक टोली थी। इस टोली में इनके गुरु महेन्द्र कन्दलि भी थे। इन्होंने वाराणसी, प्रयाग, मथुरा, वृंदावन, गोकुल, कुरुक्षेत्र, अयोध्या, बदरिकाश्रम, जगन्नाथपुरी, रामेश्वर आदि तीर्थों की यात्रा की। अपनी तीर्थ यात्रा के दौरान ये सबसे अधिक जगन्नाथपुरी में रुके। इस तीर्थ यात्रा से इनका अनुभव व्यापक हुआ। शंकरदेव ने भारत की विविधता और उसमें व्याप्त एकता का अनुभव किया। 12 वर्षों तक तीर्थाटन करने के पश्चात् सन् 1493 ई. में शंकरदेव अपने घर बरदोवा लौट आए। लौटने पर घरवालों ने उनसे पुनः विवाह करने का आग्रह किया। उस समय उनकी दादी खेरसुती जीवित थीं। स्वजनों के आग्रह को स्वीकार करते हुए अड़तालीस वर्ष की अवस्था में (सन् 1497 ई.) में शंकरदेव ने कालिका भूईयां की कन्या कालिन्दी से पुनः विवाह किया। इससे इन्हें तीन पुत्र रामानन्द, कमललोचन और हरिचरण हुए। रुक्मिणी (विष्णुप्रिया) नाम की एक कन्या भी हुई। एक पुत्र कमललोचन की मृत्यु बचपन में ही हो गई। विवाह के पश्चात् शंकर देव अपने पैतृक गाँव बरदोवा में ही रहते थे। वहीं पर उन्होंने सन् 1502 ई. में एक छोटा सत्रगृह (देवगृह, जिसे शंकरिया लोग नामघर कहते हैं) स्थापित किया। यहीं पर ये कुछ लोगों के साथ बैठकर सत्संग करते थे; कीर्तन, प्रार्थना करते थे। कुछ दिन पश्चात् शंकरदेव माजुली पहुँचे। यहाँ पर इनकी भेंट माधवदेव से हुई। माधवदेव ने शंकरदेव का शिष्य होना स्वीकार किया। माधवदेव ही इनकी मृत्यु के पश्चात् उनके धार्मिक उत्तराधिकारी बने। बाद में शंकरदेव पाटबाँउसी आ गए। ये यहाँ अठारह वर्ष रहे। पाटबाँउसी में इन्हें थोड़ी स्थिरता और शान्ति मिली। यहाँ पर रहते हुए ये यदा-कदा कोच दरबार भी जाते थे। इन्होंने अपनी अधिकांश रचनाएँ यहीं लिखीं। नामघर स्थापित किया। अनन्त कन्दलि यहीं इनके शिष्य बने। पाटबाँउसी से ही सन् 1550 ई. में शंकरदेव ने अपनी दूसरी तीर्थयात्रा शुरू की थी। इस तीर्थयात्रा में 120 अनुयायी इनके साथ थे। इस बार ये केवल जगन्नाथपुरी गए। जीर्थयात्रा से लौटने के पश्चात् इन्होंने अपने धर्म प्रचार को गति प्रदान किया। इनकी लोकप्रियता से ईर्ष्या कर कुछ लोगों ने कोचराज नरनारायण से इनकी आलोचना की। शंकरदेव को भी बुलाकर दरबार में लाया गया। राजा की आज्ञानुसार शंकरदेव ने दरबार में पंडितों से शास्त्रार्थ किया। शंकरदेव विजयी हुए। राजा ने शंकरदेव की श्रेष्ठता को स्वीकार किया। वे इनकी प्रतिभा और भगवदभक्ति से प्रभावित हुए। राजा ने शंकरदेव को राजकीय सम्मान देते हुए उन्हें अपना राजकवि बनाया। राजा शंकरदेव का मित्र बन गया। इस प्रकार शांकीय मत के प्रचार-प्रसार की एक बहुत बड़ी बाधा समाप्त हो गई। एक तरह से शांकीय मत अब राज मत बन गया। राजा ने शंकरदेव के लिए निवास-स्थान एवं सत्र भी बना दिया। शंकरदेव अधिकतर वहीं रहने लगे।

सन् 1568 ई. में इनका स्वर्गवास हो हुआ।

शंकरदेव ने विपुल साहित्य की रचना की। इनकी जो रचनाएँ प्रकाशित रूप में उपलब्ध हैं। उनके नाम हैं

- | | |
|-----------------------------------|-------------------------|
| 1. हरिश्चन्द्र उपख्यान | 9. तोटय और भटिया |
| 2. कीर्तन घोष (कीर्तनों का संकलन) | 10. उत्तरकाण्ड (रामायण) |
| 3. बरगीत | 11. पत्नी प्रसाद |
| 4. रुक्मिणीहरण | 12. रुक्मिणी हरण (नाट) |
| 5. गुणमाला | 13. केलि-गोपाल |
| 6. महाभागवत | 14. कालि-दमन |
| 7. भक्ति-प्रदीप | 15. पारिजात हरण और |
| 8. भक्ति रत्नाकर | 16. राम-विजय |

इनकी रचनाओं को रचना-तिथि के क्रम में व्यवस्थित करना कठिन कार्य है क्योंकि रचना तिथि की कोई स्पष्ट सूचना प्राप्त नहीं होती है। डॉ. माहेश्वर नेओग तथा प्रो. कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध' ने परिश्रम पूर्वक एक क्रम निर्धारित किया है। प्रो. मागध ने प्रो. नेओग के क्रम में किंचित सुधार करते हुए शंकरदेव की रचनाओं का क्रम इस प्रकार दिया है

(अ) प्रारम्भिक (बड़ा भुइयां राज्यान्तर्गत)सन् 1516 ई. के पूर्व।

(क) 'भागवत'इतर आधार पर रचित

1. हरिश्चन्द्रउपाख्यान (मार्कण्डेय पुराण पर आधारित)।
2. भक्ति-प्रदीप(गरुड़ पुराण पर आधारित)।
3. कीर्तन-घोषाउरेषा वर्णन (ब्रह्मपुराण पर आधारित)।

(ख) 'भागवत' के आधार पर रचित

4. रुक्मिणी हरण (काव्य) (श्रीधरी व्याख्या से अप्रभावित किन्तु हरिवंश से किंचित् प्रभावित)।
5. महाभागवतषष्ठ स्कन्ध (अथवा आजामिलोपाख्यान) और अष्टम स्कन्ध (अथवा गजेन्द्रोपाख्यान और अमृत मंथन)।
6. गुणमालाद्वितीय-षष्ठ अध्याय।
7. कीर्तन घोषाअजामिलोपाख्यान (षष्ठ स्कन्ध), पद्माद चरित्र। (तृतीय, सप्तम स्कन्ध), हरमोहन, बलि छलन, गजेन्द्रोपाख्यान (अष्टम स्कन्ध), चतुर्विंशति अवतार वर्णन और ध्यान वर्णन।

(ग) बरगीतसम्भवतः निम्नांकित पंक्तियों से प्रारम्भ होनेवाले गीत

1. मन मेरि राम चरणहिं लागुगीत संख्या 28।
2. राम मेरि हृदय पंकज रहिएगीत संख्या 29।

(ब) मध्यवर्ती (अहोम राज्यान्तर्गत) 1516 ई. से 1543 ई. तक। कवि के

जीवन में यह कालखण्ड सर्वथा अशान्ति, विरोध और आत्मालोचन का है। फलतः इस समय दो प्रकार की रचनाएँ हुई होंगी। यथा

(क) भक्ति विरोधियों को लक्ष्य कर लिखे गए ग्रंथ

1. कीर्तनघोषा, पाषण्ड-मर्दन, नामापरार्थ।
2. पत्नीप्रसाद (नाटक)।

(ख) कृष्ण-लीला से सम्बन्धि रचनाएँ

3. कीर्तन-घोषाशिशु लीला, कालिय-दमन, रास-क्रीड़ा, कंस बध, गोपी उद्धव संवाद, कुजी-बांछापूरण और अक्रूर-वांछा पूरन। इनके अतिरिक्त ऐसा अनुमान करना असंगत नहीं होगा कि 'बरगीत' की रचना इस अवधि में भी चलती रही होगी।

(स) अन्तिम (कोच राज्यान्तर्गत) 1543 ई. से 1568 ई. तक।

4. कीर्तन-घोषाजरासन्ध-बध, कालयवन बध, मुचकुन्द-स्तुति, श्यामन्तक-हरण, नारदर कृष्ण दर्शन, विप्र-पुत्रआनयन, दामोदर विप्र-आख्यान, देवकी पुत्र आनयन, वेद स्तुति, लीलामाला, रुक्मिणी-प्रेम-कलह, (भृगु-परीक्षा), वैकुण्ठ-प्रयाण और भागवत-तात्पर्य वर्णन।
5. महाभागवतप्रथम स्कंध, द्वितीय स्कंध, (बलिछलन), तृतीय स्कंध, (अनादिपातन), अष्टम स्कंध, नवम स्कंध (अनुपलब्ध), दशम स्कंध (आदि दशम, कुरुक्षेत्र), एकादश स्कंध ('निमि-नवसिद्ध संवाद' भी) और द्वादश स्कंध।
6. गुणमाला-प्रथम अध्याय।
7. तोटय और भटिया
8. उत्तर काण्ड (रामायण) (रामकथावाल्मीकि रामायण पर आधारित)
9. भक्ति रत्नाकार (विभिन्न शास्त्रों के आधार पर संपादन और व्याख्या)
10. कालियदमन नाट।
11. केलि गोपालनाट।
12. रुक्मिणी हरणनाट।
13. पारिजात हरणनाट।
14. रामविजयनाट। 1568 ई.

बरगीत की रचना अवधि भी संभवतः यही है।

भाषा के आधार पर विचार करें तो ब्रजावली में इनकी कुल आठ कृतियाँ हैं

- काव्य- 1. बरगीत 2. फटकर पद्य (भटिमा) तथा सभी नाटक
यथा : 1. पत्नीप्रसाद 2. कालि दमन 3. केलि गोपाल
4. रुक्मिणी हरण 5. पारिजात हरण एवं 6. राम विजय।

शंकरदेव मध्यकाल के संभवतः एकमात्र ऐसे संत हैं, जिन्होंने नाटक लिखा। इनके नाटकों का उद्देश्य भी भक्ति का प्रचार है। इनके प्रत्येक नाटक में असत्य पर सत्य की विजय दिखलाई पड़ती है। इन्होंने अपने नाटकों के माध्यम से महाभारत, रामायण और भागवत की कथा को जन-जन तक पहुँचाया। इनके नाटकों में 'सूत्रधार' का प्रयोग हुआ है। संस्कृत श्लोक भी हैं। 'केलि गोपाल' नाटक की कथा वस्तु भागवत, विष्णु पुराण और हरिवंश से ली गई है। 'रुक्मिणी हरण' नाटक की कथा भागवत से ली गई है। 'पारिजात हरण' की कथा विष्णुपुराण और हरिवंश से ली गई है। 'राम विजय' नाटक का आधार वाल्मीकि रामायण है। 'तोटय' और 'भटिमा' शीर्षक से जो रचनाएँ प्राप्त हैं, वे प्रशस्ति परक रचनाएँ हैं। 'तोटय' में कवि ने विष्णु की स्तुति की है। शंकरदेव के यहाँ भटिमा दो प्रकार की है देव भटिमा और राज भटिमा। इनके नाटकों में प्रयुक्त भटिमाओं में देव स्तुति है। 'बरगीत' का शाब्दिक अर्थ 'श्रेष्ठगीत' है। असम में शंकरदेव और माधवदेव रचित भक्ति परक गीतों को बरगीत कहा जाता है। बरगीतों को गाने की कई पद्धतियाँ हैं। इनके प्रतिपाद्य भी भिन्न हैं। प्रो. मागध ने लिखा है "वर्तमान समय में परम्परा भेद और स्थान भेद के आधार पर बरगीतों के गाने की तीन प्रमुख पद्धतियाँ देखी जाती हैं। (क) बरपेटा-परम्परा, (ख) बरदोवा-परम्परा और (ग) माजुली-परम्परा। ये तीनों गायन-पद्धतियाँ एक दूसरे से किंचित् भिन्न होते हुए भी कई दृष्टियों से अभिन्न सी हैं। गीतों में मुख्यतः कृष्ण-वन्दना, कृष्ण का रूप सौन्दर्य, कवि का दैन्य, ईश्वर-लीला की विचित्रता, नाम महिमा, भक्ति की महत्ता, भक्ति-रहित जीव, कवि का आत्म-निवदेन, संसार की भंगुरता, मनःप्रबोध, गोपी विरह, वंशी प्रभाव इत्यादि से सम्बन्धित वर्णन है।"⁵

शंकरदेव संस्कृति के प्रकाण्ड विद्वान थे, लेकिन इन्होंने भी जनभाषा असमीया को अपनाया। स्थान-स्थान पर संस्कृत के श्लोक भी आए हैं। तुलसीदास ने भी संस्कृत में श्लोक लिखा है। इन दोनों कवियों ने यह सिद्ध किया कि संस्कृत का ज्ञान होते हुए भी वे जनभाषा में लिख रहे हैं।

शंकरदेव की रचनाएँ इनके वैष्णव मत का प्रतिपादन करने के लिए है। नाम धर्म का प्रचार इन रचनाओं का उद्देश्य है। शंकरदेव ने कहा कि "आउर धर्म कल्पित नाम त परे नाई।" यह भी स्थापित किया कि विभिन्न युगों में धर्म का स्वरूप परिवर्तित होता रहता है

सत्य युगे पूजे विष्णु धरिया समाधि।

महा महा यज्ञ त्रेता युगत आराधि॥

येन गति द्वापरत पूजे भक्ति भावे।

कलित कीर्तन करि सबे फल पावे॥

भक्ति आन्दोलन से जुड़े सभी संतों ने जाति-पाँति तथा भेद भाव को नकार दिया। कबीरदास ने कहा

एकै पवन एक ही पानी, एक जोति संसारा।
एक ही खाक घड़े सब भाड़े, एक ही सिरजन हारा॥

संत रविदास ने कहा

सबमें हरि है, हरि में से है, हरि अपनो जिन जाना।
साखी नहीं और कोई दूसर, जाननहारा सयाना॥

शंकरदेव भी कहते हैं कि हरि भक्ति में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं होता

शुना रामायण सबे सभासद यत।
हरि भक्तरी देखा महत्वा॥
तृण वन वृक्ष पशु पंतगरो गति।
एकोवे न बाछे देखा हरिर भक्ति॥

शंकरदेव ने भी भक्ति का द्वार सबके लिए खोल दिया। उन्होंने कहा कि किरात, कछारी, खासी, गारो, मिरि, यवन, कोच, म्लेच्छ, चंडाल सभी कृष्ण सेवक की संगति से पवित्र हो जाते हैं। वे भी भगवद भक्ति को प्राप्त कर इस संसार से मुक्त होते हैं और बैकुण्ठ को प्राप्त करते हैं

किरात कछारी खासी गारो मिरि
यवन कंक गोवाल
असम मुलुक रजक तुरुक
कुवाच म्लेच्छ चण्डाल
आनो यत नर कृष्ण सेवकर
संगत पवित्र हय।
भक्ति लभिया संसार तरिया
बैकुण्ठे सुखे चलय।

शंकरदेव ने लोकभाषा को अपनाया। लोक तक अपने मत को पहुँचाने के लिए उन्होंने नाटक लिखा। नाटकों का स्वयं मंचन किया। वे अच्छे नाट्य निर्देशक भी थे। वादक भी थे। कई वाद्य यंत्रों का विकास किया। इनके लोक नाटकों से प्रभावित होकर ही असम में 'भावना' का प्रचलन हुआ। इन नाटकों ने धर्म-प्रचार भी किया, समाज सुधार भी। इन्होंने जिस 'एकसरणिया' मत का प्रवर्तन किया वहाँ भागवत पूज्य ग्रंथ बना वहाँ कोई मूर्ति नहीं है। उनके अनुयायी उनकी मूर्ति पूजा के लिए नहीं

रखते। नानकपंथ में 'गुरुग्रंथ साहब' ने पूज्यता प्राप्त की। दादू पंथ में भी पुस्तक ही पूज्य है। मंदिर में ग्रंथ ही रखा हुआ है। उसी की पूजा होती है। उसी का पाठ होता है। गुरुग्रंथ साहब में कई संतों की वाणियाँ हैं। दादूवाणी में दादू की ही रचनाएँ हैं। शंकरदेव के पंथ में भागवत पुराण को पूज्यता प्राप्त है। उनका उद्देश्य वैष्णव भक्ति का प्रचार करना है। ऐसी वैष्णव भक्ति का जिसमें सबको समानता का अधिकार है। इनके नाटकों का उद्देश्य भी भक्ति और मुक्ति है।

शंकरदेव की विचारधारा के साथ असम का सामान्य जन उत्साह के साथ जुड़ा। इन्होंने बिना भेदभाव किए भक्ति का द्वार सबके लिए खोल दिया। इसका प्रभाव यह पड़ा कि तत्कालीन बहुत-सी जनजातियों ने भी इनकी भक्ति-पद्धति को अपनाया। डॉ. महेश्वर नियोग ने लिखा है

“In the Namaghosa, Madhavadeva refers to the acceptance of namadharma by people of Garo, Bhota (Bhutiya), Yavana (Muslim), Miri, Asama (Ahom) and Kachari origin... An old work called Amulyaratna names together these bhaktas of Assam: Govinda, A Garo; Paramananda, a Miri; Narahari, an Ahom; Jayarama, a Bhutiya; Candsai, a Muslim and Bhattadeva, a Brahmin. Candasi (Cand Kahan?) was converted by Shankar deva himself into the faith and he was so much respected within the order that he is counted among the great bhaktas, identified with the beads of a Assam Vaisnava rosary.”⁶

शंकरदेव ने अपने कार्य से सम्पूर्ण पूर्वोत्तर भारत को प्रभावित किया। शंकरदेव न होते तो पूर्वोत्तर का दृश्य कुछ और होता। आज जो वैष्णव भक्ति पूर्वोत्तर में दिखलाई पड़ती है, उसके मूल में शंकरदेव हैं। पूर्वोत्तर में जहाँ भी शान्ति, सद्भावना प्रेम और सहिष्णुता है, वहाँ कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी रूप में शंकरदेव उपस्थित हैं।

सन्दर्भ

1. भक्ति का विकास, डॉ. मुंशीराम शर्मा, चौखम्बा विद्याभवन, द्वितीय संस्करण-1979, पृष्ठ : 309
2. उत्तरी भारत की संत परम्परा, परशुराम चतुर्वेदी, भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण-1972 पृष्ठ : 79
3. उत्तरी भारत की संत परम्परा, परशुराम चतुर्वेदी, भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण-1972, पृष्ठ : 100
4. रिलिजन ऑफ दि नार्थ ईस्ट, महेश्वर नियोग, प्रकाशक-मुंशीराम मनोहरलाल, प्रथम संस्करण-1884, पृष्ठ-140
5. शंकरदेव : साहित्यकार और विचारक, डॉ. कृष्ण नारायण प्रसाद 'मागध' प्रकाशक :

पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटियाला 1976, पृष्ठ : 56

6. रिलिजन ऑफ दि नार्थ ईस्ट, महेश्वर नियोग, प्रकाशक : मुंशीराम मनोहर लाल, प्रथम संस्करण-1987, पृष्ठ : 140

रणजीत सिंह-काल का पंजाबी साहित्य

डॉ. नरेश*

इस तथ्य की पुष्टि के लिए अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं कि निपट निरक्षर होते हुए भी महाराजा रणजीत सिंह संगीत के प्रेमी तथा कविता के रसिक थे। उनकी अनपढ़ता उनके कविता सुनने के शौक और पसंद आई कविता पर पारितोषिक देने के उत्साह के रास्ते का कभी रोड़ा नहीं बनी। सैयद मुहम्मद लतीफ पुष्टि करते हैं कि 'वह अनपढ़ था, कोई भी भाषा लिख-पढ़ नहीं सकता था परन्तु तब भी उसके मन में विद्वत्ता एवं विद्वानों के प्रति गहरा सम्मान था।'¹ उनके जीवनी-लेखकों ने एक घटना दर्ज की है कि एक बार उसने एक मुसलमान कातिब से उसके द्वारा तैयार की गई कुर्आन की प्रति दस हजार रुपये में खरीदी थी। इस प्रति को तैयार करने में कातिब ने दस वर्ष श्रम किया था। भारत के मुसलमान राजाओं से उचित मूल्य प्राप्त न होने के कारण निराश कातिब अपना भाग्य आजमाने यह सोचकर लाहौर चला गया था कि शायद रणजीत सिंह उसके श्रम का पारितोषिक दे दे।²

रणजीत सिंह की एक अन्य जीवनी में उल्लेख है कि महाराजा ने उस कवि को अच्छी बड़ी धनराशि इनाम में दी थी, जिसने अपनी कविता में उनकी एकमात्र आँख को न्याय की एक आँख कहकर सराहा था।³ इसी जीवनी से यह भी विदित होता है कि जिस प्रकार उसने हिन्दू पुराणों, रामायण, श्रीमद्भगवद्गीता आदि के अनुवाद कार्य को प्रोत्साहित किया था, उसी प्रकार उसने इस्लामी साहित्य के अनुवाद को भी प्रश्रय दिया था। उसने मुसलमान पंजाबी कवि हाशिम को जागीर प्रदान की थी और कवि शाह मुहम्मद को सम्मानित किया था। प्रसिद्ध पंजाबी कवि फ़ाजिल शाह ने महाराजा की प्रेरणा से ही सोहनी-महीवाल की रचना करके उसे मंचित किया था। लाहौर के शाह हुसैन ने अकेले सोहनी-महीवाल के ही लगभग पचास किस्सों की चर्चा की है, जो रणजीत सिंह-काल में लिखे गए थे।⁴ के.के. खुल्लर का कहना है कि इस काल में सोहनी-महीवाल, हीर-रौंझा, मिर्जा साहिबाँ, सस्सी-पुन्नू आदि सभी प्रेमाख्यान महाराजा की प्रेरणा के फलस्वरूप ही रचे गए थे।⁵

पंजाबी कविता के प्रति रणजीत सिंह का प्रेम मात्र मनोरंजन तक सीमित नहीं था बल्कि वे अपनी मातृभाषा को सच्चे मन से प्यार करते थे। सन् 1830 में उन्होंने

* आचार्य एवं अध्यक्ष, आधुनिक साहित्य पीठ, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़-160014

यह इच्छा प्रकट की थी कि किसी अंग्रेज मिशनरी को उसके एकान्त में प्रस्तुत किया जाए ताकि वे उससे ईसाई धर्म के सिद्धान्तों के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकें। उनकी यह जिज्ञासा ऐसी प्रबल थी कि उन्होंने मिशनरी से प्रार्थना की कि वह उनको अपनी धार्मिक पुस्तकें लाकर दे। कुछ समय बाद उन्होंने जॉन-सी लौरी से भेंट की और लौरी को और राज्य की भावी शिक्षा-नीति के विषय में बताया और उससे आग्रह किया कि वह इस नीति को अपनी देख-रेख में क्रियान्वित करे।⁶ हालाँकि अमरीकी मिशनरी जॉन-सी लौरी 'पश्चिमी विदेशी मिशनरी सोसाइटी' की ओर से ईसाई मिशन की स्थापना के उद्देश्य से 5 नवम्बर, 1934 को लाहौर आया था लेकिन उसके आगमन का एक शुभ परिणाम यह हुआ कि लाहौर में गुरुमुखी छापाखाना स्थापित हो गया। यही वह काष्ठ मुद्रणालय था जहाँ पंजाबी का प्रथम शब्दकोश और पंजाबी का प्रथम व्याकरण मुद्रित हुआ था।⁷

रणजीत सिंह के काल के अंतिम वर्षों में बड़ी सैनिक कार्यवाहियों ने भी पंजाबी बोली को भाषा के पद पर पहुँचाने की दिशा में योगदान दिया। मिशनरी गतिविधियों ने न केवल डब्ल्यू केरी से पंजाबी व्याकरण ही तैयार कराया बल्कि कैप्टन सिड्डन से 'विचित्र नाटक' का अंग्रेजी अनुवाद भी करा दिया। पंजाबी भाषा की उन्नति में रणजीत सिंह-काल की एक देन यह है कि इस दौरान पंजाबी को अरबी-फारसी का एक बड़ा शब्द-भण्डार प्राप्त हुआ। ये पराए शब्द शीघ्र ही पंजाबी में रच-बस गए और पंजाबी संस्कृत एवं ब्रज के चिरकालीन गहन प्रभाव से मुक्त होने लगी। परिणामस्वरूप एक भाषा के रूप में पंजाबी को अपनी पहचान स्थापित करने का अवसर प्राप्त हुआ।

इस काल की एक अन्य देन यह है कि इसके दौरान पंजाबी की बोली से भाषा की ओर की यात्रा में गति आई। जनसाधारण की पंजाबी-शब्दावली ने साहित्य के प्रासाद में पदार्पण किया और यथोचित स्थान प्राप्त किया। इसी काल में लाहौर-अमृतसर की बोलचाल की पंजाबी केन्द्रीय भाषा के रूप में उभरी। बोलचाल की भाषा में 'सिंहों दे बोले' कही जानेवाली सैनिक पंजाबी के अनेक शब्दों का समावेश भी इसी युग में हुआ। इसी काल में बाइबिल का पंजाबी अनुवाद प्रकाशित हुआ (सन् 1811) तथा मिशनरियों ने लुधियाना में पंजाबी मुद्रणालय (सन् 1837) स्थापित किया। मिशनरियों ने अपना धार्मिक साहित्य प्रकाशित करने के साथ-साथ पंजाबी के व्याकरण और शब्दकोश भी प्रकाशित किए।

रणजीत सिंह का राज्य स्थापित होने पर दीर्घकाल से अशान्ति एवं असुरक्षा का संताप भोग रहे पंजाबियों को सुख की साँस मिली। पंजाब का माहौल ठीक हुआ और पंजाबियों का रूठा हुआ अलबेलापन लौट आया। इसी के फलस्वरूप इस काल में ढेरों प्रेमाख्यान रचे जा सके। साहित्य के क्षेत्र में, इस काल के दौरान, पंजाबियत का खुला प्रदर्शन हुआ। इससे एक नई सोच ने जन्म लिया जिसके परिणामस्वरूप पंजाबी कवि धर्म, जाति-पाँति तथा साम्प्रदायिकता की दलदल से उबरकर सर्वधर्म समभाव की ओर

बढ़े। एक ओर जहाँ मुसलमान पंजाबी कवियों ने वैष्णवों की शैली में कृष्ण भक्ति-साहित्य की रचना की वहीं दूसरी ओर हिन्दू कवियों ने इस्लामी शब्दावली तथा इस्लामी सभ्यता को अपनी रचना-शैली में समाहित किया। डॉ. मोहन सिंह दीवाना इस काल की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं साहित्यिक गतिविधियों का निष्कर्ष निकालते हुए लिखते हैं कि 'सिखों की आपसी लड़ाइयों और उनकी अंग्रेजों के साथ लड़ाइयों ने पंजाबी कविता को सशक्त विषय-वस्तु प्रदान किया।⁸ डॉ. दीवाना इस काल में बढ़ी निर्मले साधुओं की साहित्यिक गतिविधियों को भी रणजीत सिंह-काल में व्याप्त हुई शान्ति एवं समृद्धि का परिणाम ही मानते हैं।⁹

हाँ, इस काल में गद्य-रचना को कोई विशेष उन्नति प्राप्त नहीं हुई। जो थोड़ा बहुत साहित्य गद्य में लिखा भी गया, उसमें भी पंजाबी का अपना भाषायी चेहरा अरबी-फारसी शब्दों के बाहुल्य रूपी आवरण में छिपा पड़ा है। उर्दू-फारसी-अरबी का प्रभाव तो पंजाबी कविता पर भी प्रचुर मात्रा में पड़ा, लेकिन कविता ने अपनी भाषायी पहचान नहीं खोई थी। पंजाबी गद्य इस पहचान को कायम नहीं रख पाया।

रणजीत सिंह-काल के पंजाबी साहित्य के सर्वेक्षणार्थ हम इसे चार भागों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम भाग प्रेमाख्यानों का है, जिसमें हाशिम, अहमद यार और कादिर यार नामक तीन कवि प्रमुख रूप से उभरते हैं। हाशिम (1753-1823), जिसे बिना किसी ठोस प्रमाण के रणजीत सिंह का दरबारी कवि कहा गया है, सस्सी-पुन्नू, शीरी-फरहाद, सोहनी-महीवाल तथा हीर जैसे प्रेमाख्यानों के रचयिता के रूप में प्रस्तुत होता है। इसके अलावा वह दोहे और इयोद्वे भी लिखता है। उसके प्रेमाख्यानों में आध्यात्मिकता की झलक दिखाई पड़ती है। 'दवैया' छन्द के प्रयोग में वह अपनी काव्य-कुशलता का परिचय देता है। इस खण्ड का दूसरा कवि अहमद यार (1768-1845) है, जो हीर-राँझा, सोहनी-महीवाल, लैला-मजनुँ, राज बीवी, कामरूप, हातिमताई, यूसुफ-जुलैखा तथा सस्सी-पुन्नू सहित पैंतीस प्रेमाख्यानों का रचयिता है। अहमद यार की रचना-धर्मिता का प्रेरणास्रोत पारितोषिक या प्रतिफल-प्राप्ति प्रतीत होता है। अपने किस्से 'हातिमनामा' में वह स्वयं स्वीकार करता है कि इसकी रचना उसने रणजीत सिंह से पारितोषिक-प्राप्ति की इच्छा से की थी।¹⁰ कादिर यार (जन्म 1805) भी अहमद यार की तरह ही प्रतिफल को ही साहित्य रचना का आधार बनाता है। इस बात को वह अपने किस्से 'पूरन भगत' में बेझिझक कह भी डालता है।¹¹ कादिर यार द्वारा रचित चार प्रेमाख्यानों (पूरन भगत, हरि सिंह नलवा, राजा रसालू तथा सोहनी-महीवाल) में से 'पूरन भगत' साहित्यिक दृष्टि से एक बेहतर रचना है। इसका कारण कथानक की जन-स्वीकृति तथा कवि के हाथों हुआ इसका अच्छा निर्वाह है। प्रेमाख्यानक के क्षेत्र में पदार्पण से पूर्व कादिर यार ने इस्लामी जीवन-दर्शन की उत्कृष्टता सिद्ध करने के उद्देश्य से 'मेराजनामा' की रचना की थी। लगता है कि इस्लामी साहित्य के लिए मुसलमान सामन्तों की अनुदारता को देखते हुए वह

प्रेमाख्यान-रचना की ओर आकृष्ट हुआ था। इसी परम्परा का एक अन्य कवि इमाम बख्श (जन्म 1778) है, जो रणजीत सिंह-काल के अन्तिम वर्षों में साहित्य के क्षेत्र में उदित होता है। यह भी प्रेमाख्यान का कवि है। इसके प्रेमाख्यानों, लैला-मजनूँ, चन्द्रबदन, शाह बहराम, बदी-उज्-जमाल, इब्राहीम अहमद बलूखी तथा मलिकजादा शाहपरी में से साहित्यिक दृष्टि से शाह बहराम एक उत्कृष्ट प्रेमाख्यान प्रतीत होता है।

दूसरा भाग वीररस तथा देश भक्ति की कविता पर आधारित है, जिसमें राष्ट्रीयता के पक्षधर एवं वीर रसात्मक कविता की रचना में निमग्न कवियों में भाई कान्ह सिंह बंगा, शाह मुहम्मद, मटक तथा निहाल सिंह प्रमुख हस्ताक्षर हैं। इस दृष्टि से देखा जाए तो शाह मुहम्मद का कद अपने समकालीन कवियों की अपेक्षा काफी ऊँचा है। उसकी प्रसिद्ध रचना 'अंग्रेजों अते सिखाँ दी लड़ाई' में रणजीत सिंह के निधनोपरान्त के पंजाब के दुखान्त का बहुत करुणापूर्ण चित्रण किया गया है। पाठक के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह कवि का सारा दोष महारानी जिन्दों के सिर मँढ़ने के निर्णय के साथ सहमत हो लेकिन वह इस त्रासदी के न्यायपूर्ण वर्णन तथा कवि की देश प्रेम की भावना की उपेक्षा किसी प्रकार भी नहीं कर सकता। कादिर यार की 'वार हरि सिंह नलवा' में भी देश भक्ति का स्वर स्पष्ट सुनाई देता है लेकिन यह रचना शाह मुहम्मद की ऊपर लिखी रचना की तुलना में बहुत हल्की दिखाई देती है। कारण यह है कि कादिर यार ने इतिहास-चित्रण के विषय में सावधानी से काम नहीं लिया है और रचना को प्रशस्ति गान बना डाला है। इसके विपरीत मटक की कविता में राष्ट्रीयता की भावना कहीं अधिक मुखर है। जाफर बेग की कविता यद्यपि साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं है लेकिन उसकी चर्चा यहाँ इसलिए आवश्यक है कि उसने 'बैताँ रणजीत सिंह दियोँ' की रचना की है।

तीसरे भाग में धार्मिक कविता आती है, जिसमें वेदान्त, सिख तथा सूफी रंग प्रमुख हैं। निर्मले साधुओं की कविता वेदान्त-दर्शन पर आधारित है। डॉ. दीवाना निश्चल दास के 'विचार सागर' और हरि दयाल के 'सरुक्तावली' को पंजाबी वेदान्ती कविता के उत्कृष्ट नमूने कहते हैं।¹² भाई सन्तोख सिंह के 'गुरु प्रताप सूरज' तथा 'नानक प्रकाश' कवि की सिख-इतिहास की गहरी जानकारी और सिख-दर्शन पर उसकी मजबूत पकड़ के द्योतक हैं। गुलाम जीलानी तथा नूर मुहम्मद जैसे सूफी कवि पंजाबी सूफी कविता की समृद्ध परम्परा को जारी रखने में सहायक होते हैं।

चौथा तथा अन्तिम भाग गद्य-रचना का है, जिसमें अनुवाद-कार्य भी शामिल है। अनुवाद के क्षेत्र में इस काल में किए गए बाइबिल, आईने-अकबरी, अकबरनामा तथा आत्म पुराण के पंजाबी अनुवाद महत्त्वपूर्ण हैं। भाई सन्तोख सिंह की जपुजी साहिब की व्याख्या इस भाग में चर्चा-योग्य एक अन्य महत्त्वपूर्ण रचना है। किशोर दास के 'गीता माहात्म्य' को भी इस काल की गद्य-रचना के उदाहरण के तौर पर लिया जा सकता है।

कुल मिलाकर हम देखते हैं कि यद्यपि रणजीत सिंह-काल में एक भी ऐसा कवि या गद्य लेखक उपलब्ध नहीं है, जिसे उसके पहले के महान् साहित्यकारों के समकक्ष स्थान दिया जा सके लेकिन तब भी इस काल ने साहित्यकारों को वह सुखद वातावरण तथा आर्थिक प्रोत्साहन अवश्य प्रदान किया, जिसके फलस्वरूप उनके बहुमुखी विकास के आयाम प्रशस्त हो गए थे। संक्षेप में इस काल की साहित्यिक प्राप्ति यों हैं

- (1) पंजाबी ने बोली से भाषा में रूपान्तरित होने की दिशा में कदम बढ़ाया,
- (2) अनुवाद-कार्य द्वारा पंजाबी के साहित्य-भण्डार में वृद्धि की गई,
- (3) राष्ट्रीयता के प्रतीक-स्वरूप पंजाबियत का उदय हुआ और
- (4) ढेरों-ढेर प्रेमाख्यानों की रचना हुई।

सन्दर्भ

1. लतीफ एस्.एम्. : *महाराजा रणजीत सिंहपंजाब्स मैन ऑफ हिस्ट्री*, पृ. 166
2. गुलाटी, एस.पी. : *वहीभूमिका*, पृ. 8
3. खुल्लर, के.के. : *महाराजा रणजीत सिंह*, पृ. 190
4. वही : पृ. 184-85
5. वही : पृ. 195
6. लतीफ एस्.एम्. : *उल्लिखित* पृ. 179
7. खुल्लर, के.के. : *महाराजा रणजीत सिंह*, पृ. 188
8. दीवाना, मोहन सिंह : *ए हिस्ट्री-ऑफ पंजाबी लिटरेचर*, पृ. 68-70
9. वही : पृ. 68-70
10. असाँ इनाम मंगन दी खातिर तोहफा इक बनाया।
मजलिस माशूकाँ दी बनया राजियाँ वादशाहाँ दा।
अहमद यार
11. पूरन भगत दी गल्ल सुनाय के जी,
इक खूह इनाम लिखाया मैं
बख्शियार
12. दीवाना, मोहन सिंह : *ए हिस्ट्री ऑफ पंजाबी लिटरेचर*, पृ. 74

* लेखक 'चिन्तन-सृजन' एवं 'डायलॉग' के सम्पादक हैं।

वैचारिक उपनिवेशवाद और हमारी सोच

डॉ. ब्रज बिहारी कुमार*

आज हमारा देश एक विचित्र तरह की वैचारिक धुँध, चकरा देनेवाले उलझाव, बौद्धिक आरामतलबी, वैचारिक उपभोक्तावाद एवं सैद्धान्तिक दिवालियापन की भयावह स्थिति से गुजर रहा है। आयातित विचारों के उपभोग एवं अंधी नकल से उपजी अकर्मण्यता, मेकाले एवं डिरोजियो की परम्परा तथा मार्क्सवादी सोच की जकड़न से उपजी जड़ता ने हमारी सोचने की शक्ति को कुंठित किया है। वर्तमान राजनीति की सड़ौध एवं शिक्षा जगत की दिशा-हीनता ने इस कुंठा को बढ़ाया है। हमारे राष्ट्रीय जीवन का कोई भी पक्ष इससे अप्रभावित नहीं रहा है। फिर भी इसका सबसे घातक प्रभाव इस देश के अंग्रेजीदो-वर्ग एवं यहाँ के अंग्रेजी लेखन पर पड़ा है। हिन्दी आदि भाषाओं के लेखन की बात तो और भी बुरी है। ये अनुवाद की भाषाएँ बन गई हैं। इन भाषाओं में लिखी गई सामग्री सम्मान की दृष्टि से नहीं देखी जाती है।

वैचारिक उपनिवेशवाद

हमारा बौद्धिक वर्ग तैयार माल चाहता है। वह बौद्धिक माल तैयार नहीं करता, उसका उपभोग मात्र करता है। लन्दन, न्यूयार्क, पेरिस आदि उसके तीर्थ एवं मंडियाँ हैं। वहाँ के वैचारिक कबाड़खानों एवं गुदड़ी बाजारों से लाए गए पुराने माल वे अंग्रेजी एवं भारतीय भाषाओं के पाठकों को परोसते रहते हैं। तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर बेहद बेतुकी व्याख्याओं के साथ आयातित वैचारिक ढाँचे में ढँसकर भारतीयों के माथे मढ़ दिया जाता है। वे इस बात की चिन्ता नहीं करते कि भारत भारत है, अमेरिका, यूरोप, रूस और चीन नहीं और हमने अलग-अलग दिशाओं में चलकर विकास किया है। हमारा इतिहास, दर्शन, सामाजिक संरचना, अर्थतंत्र आदि भिन्न रहे हैं। हमारे बौद्धिक वर्ग पर उपनिवेशवादी सोच का जकड़न भरा तगड़ा प्रभाव रहा है। वैचारिक उपनिवेशवाद की सहज स्वीकृति एवं आजादी के बाद उसका सशक्त होते जाना ही हमारे बौद्धिक दरिद्रता का सबसे बड़ा कारण रहा है। आज स्थिति बहुत ही खराब हो चुकी है। हमारे बौद्धिक अगुआ हमारे लेखक, दार्शनिक, विश्वविद्यालयों के आचार्य नहीं, बल्कि राजनीति कर्मी, सरकारी पदाधिकारी, पत्रकार एवं फिल्मी लोग बन चुके हैं। चिन्तनशील लेखकों की प्रजाति नष्ट होती जा रही है।

उपनिवेशवादी अपने उपनिवेश से कच्चा माल सस्ते दर पर लेकर माल तैयार करता है और अपने उपनिवेश में वापस लाकर भारी मुनाफा के साथ बेचता है। भारत में अंग्रेजी उपनिवेश का उद्देश्य भी यही था। बाद में उन्होंने इस देश में वैचारिक उपनिवेशवाद की नींव डाली।

पलासी के युद्ध के बाद अंग्रेज एक बड़ी ताकत के रूप में उभरे थे। युद्ध एवं कूटनीति द्वारा इस देश को गुलाम बनाने के बाद अंग्रेजों ने इस गुलामी को स्थायित्व देने के लिए लगातार कई कदम उठाए। मेकाले की शिक्षा-नीति, भारत के भावनात्मक विखंडन के लिए प्रजातिवादी सोच का विकास, भारतीय धर्म एवं परम्पराओं की गलत व्याख्या, आदि इस देश की वैचारिक एवं सांस्कृतिक गुलामी के लिए काफी सोच समझकर उठाए गए कदम थे।

यूरोप-केन्द्रित इतिहास

सिकन्दर भारत के इतिहास का एक शुद्ध हिस्सा है; सीमान्त घटना का अति शुद्ध भाग। स्मिथ जैसे लेखकों द्वारा उसका महिमा-मण्डन समझ में आता है। उसे यूरोप-केन्द्रित इतिहास लिखना था, साथ ही सेमेटिक पहचान से अलग यूरोप की पहचान बनानी थी। उसका लिखा भारतीय इतिहास का एक तिहाई हिस्सा सिकन्दर के भारतीय अभियान पर आधारित है। भारतीय इतिहास लेखक स्मिथ की कदमों पर क्यों चलते हैं? जबकि अब यह बात सिद्ध हो गई है कि सिकन्दर ने झूठा इतिहास लिखवाया था। महमूद गजनवी का इतिहास भी भारतीय दृष्टिकोण से नहीं लिखा गया। भारत के इतिहास में पूर्वोत्तर भारत या अन्य क्षेत्रों के इतिहास को उचित स्थान क्यों नहीं दिया जाता? असम के लोग पूछते हैं कि हम भारत के इतिहास में कहाँ हैं? ऐसे प्रश्न दूसरे भी पूछ सकते हैं?

भारत में आर्य-अभियान की परिकल्पना एक सोचे समझे षड्यंत्र के तहत की गई थी। इस झूठ को बार-बार उजागर किया जा चुका है। फिर भी हमारे इतिहास लेखक इसे हम पर लादते रहे हैं। इस झूठ से इन्दोनेशिया से इंग्लैण्ड तक फैले भारत-केन्द्रित भाषायी एवं सांस्कृतिक तत्वों के सातत्य की व्याख्या सम्भव नहीं है। राम शरण शर्मा जैसे इतिहास लेखकों को घोड़ों की हड्डियाँ गिनना बन्द करके अंग्रेजी उपनिवेशवादी परम्परा की लीक छोड़ देनी चाहिए। इतिहास लेखन नई परम्परा की माँग करता है। हमें राजवंशों के डायरी-लेखन से ऊपर उठकर नई परम्परा शुरू करनी चाहिए। बहादुर शाह जफर का शासन देश के कितने बड़े हिस्से पर रह गया था? क्या वे सचमुच इस देश के सम्राट रह गए थे?

अनेकता की अतिवादिता

हमारा पढ़ा-लिखा वर्ग 'अनेकता में एकता' की बात एक तोते की तरह करता है, बिना समझे बुझे। इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि इस देश में विभिन्नता है और इससे यह देश कई तरह से समृद्ध हुआ है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि इसे एक धर्ममत की तरह हठधर्मितापूर्वक पागलपन की सीमा तक खींचा जाए, जिससे एकता की बात बिल्कुल लुप्त हो जाए; वह सन्देह की वस्तु बन जाए। उदाहरणस्वरूप, हम इस देश की भाषायी अनेकता की ही बात करें। भारत की 1961 की जनगणना के अनुसार इस देश में 1,652 भाषाएँ बोली जाती हैं, जिसमें से 471 भाषाएँ तो ऐसी हैं कि उनमें से प्रत्येक के बोलनेवाले मात्र एक से पाँच तक ही हैं। 601 भाषाएँ अवर्गीकृत हैं। 232 भाषाएँ मात्र एक-एक व्यक्तियों के द्वारा एवं 87 भाषाएँ दो-दो व्यक्तियों द्वारा बोली जाती हैं। कुछ भाषाओं की स्थिति गौर करने लायक है, जैसे बलियाली (बोलनेवाला मात्र एक, पंजाब में; उत्तर प्रदेश के बलिया में नहीं); दखिनी (बोलनेवाला एक, गुजरात में; दक्कन में नहीं), नागपुरी (एक भाषा-भाषी, अरुणाचल प्रदेश), उज्जैनी (मात्र एक व्यक्ति, मैसूर में; उज्जैन में नहीं), त्रावणकोरियन (एक व्यक्ति, दिल्ली में; केरल में नहीं), वाइआला (एक व्यक्ति, उत्तर प्रदेश में; लद्दाख में नहीं), बीजापुरी (दो व्यक्ति, दिल्ली में; कर्नाटक के बीजापुर में नहीं)। जाहिर है कि पूरी स्थिति विडम्बनापूर्ण है। ऐसा नहीं होना चाहिए। विविधता का इस प्रकार का विस्तार बुरा है, समाज-शास्त्रियों द्वारा बिना जाँचे परखे इसे उछालना और भी बुरी बात है। स्पष्ट है कि इस देश में मरणशील जातियों की संख्या इतनी नहीं कि उनके बोलनेवाले एक या दो ही बचे हों। मरणशील प्रजातियों की जानकारी लोगों को है। फिर पंजाब में बलिया, अरुणाचल में नागपुर, दिल्ली में त्रावणकोर एवं बीजापुर की खोज तो और भी चौंकानेवाली है। अनेकता का अनावश्यक विस्तार भाषाओं के अलावा अन्य क्षेत्रों में भी हुआ। भारत में उपनिवेशवादी सोच के तहत धार्मिक सातत्य आदि को नकारा गया है। धार्मिक, सम्प्रदाय सम्बन्धी एवं जातीय विभेदों को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया गया। ऐसा कार्य दक्षिणपंथी एवं वामपंथी दोनों ही तरह के वैचारिक उपनिवेशवादियों द्वारा किया गया।

1947 ई. में अंग्रेज चले गए। उनकी कुर्सियों पर भूरे साहब जा बैठे। आजादी की खुशियाँ मनाई गईं। किन्तु अंग्रेजों द्वारा स्थापित वैचारिक एवं सांस्कृतिक उपनिवेशवाद बना रहा। आजादी के बाद उसकी जड़ें दिन-दिन गहरी होती गईं। अंग्रेज गए, अंग्रेजी पदस्थापित रही। वैचारिक गुलामी बरकरार रही।

प्रजातीय सोच

अंग्रेजों ने जिस वैचारिक गुलामी की नींव डाली थी, प्रजातिवादी सोच उसी के तहत विकसित की गई थी। शुरुआत मेकाले की शिक्षानीति से हुई थी। मेकाले का विश्वास था कि उसकी शिक्षा के प्रभाव से बंगाल के उच्च वर्ग में कोई भी मूर्तिपूजक

नहीं रह जाएगा और बिना किसी हस्तक्षेप के उन्हें ईसाई बनाया जा सकेगा। यह बात उसने 1836 ई. में अपने पिता को लिखे एक पत्र में कही थी।

मेकाले ने मैक्समूलर से ऋग्वेद का अनुवाद अंग्रेजी में इस प्रकार करने को कहा, ताकि उससे हिन्दुओं का विश्वास खत्म कराकर उन्हें ईसाई बनाया जा सके। इस कार्य के लिए उसने मैक्समूलर को इस्ट इण्डिया कंपनी की तरफ से एक लाख रुपया देने की पेशकश की। मैक्समूलर ने ईसायत के लिए यह काम स्वीकार किया। वह कभी भारत नहीं आया, पर संस्कृत के ग्रन्थों का लगातार अनुवाद करता रहा; उनकी गलत व्याख्याएँ करता रहा। 'सेक्रेट बुक्स ऑफ द इस्ट' उसके इसी प्रयास का प्रतिफल था। संस्कृत विद्वान विल्सन उसके गलत अनुवादों का आलोचक बना रहा।

'आर्य' शब्द का प्रयोग भारतीय साहित्य में बार-बार हुआ है। इसका प्रयोग शील एवं अच्छे आचरण के अर्थ में होता रहा है। किसी नस्ल या जाति के अर्थ में इसका गलत प्रयोग मैक्समूलर ने जानबूझकर पहली बार किया। उसने अपने ऋग्वेद के अनुवाद की भूमिका में आर्य जाति (Aryan Race) शब्द का प्रयोग किया था। आर्य प्रजाति की परिकल्पना के साथ भारत में आर्य अभियान की कल्पना की गई। भारत में और भारत के विषय में प्रजातिवादी सोच की शुरुआत मैक्समूलर के इस प्रपंच से हुई। इस झूठ ने आर्य-अनार्य, आर्य-द्रविड़, आर्य-दास, आर्य-आग्नेय आदि के बीच कल्पित संघर्षों एवं विभाजक परिकल्पनाओं को जन्म दिया।

मैक्समूलर का दूसरा झूठ भारतीय इतिहास को गलत तिथिक्रम देने का था। बाइबिल के अनुसार ईश्वर ने 4004 ई. पू. के 23 अक्टूबर के 9.00 बजे दिन से सृष्टि करना प्रारम्भ किया था। बाइबिल के अनुसार जल-प्लावन 2448 ई. पू. में हुआ था। फिर पृथ्वी के रहने लायक बनने आदि में समय लगा। तदनुसार आर्यों के भारत अभियान का समय लगभग 1400 ई.पू. एवं भारत आकर ऋग्वेद लिखने का समय 1200 ई.पू. तय हुआ। मैक्समूलर उपनिवेश के पैसे पर पलनेवाला अंधविश्वासी ईसाई था। वह न उपनिवेशवादियों के गन्दे इरादों का विरोध कर सकता था और न बाइबिल की तिथियों पर शंका। फिर भी अतिशय विरोध की स्थिति में उसने अपनी बात बदल डाली। उसने कहा

“Whether the Vedic hymns were composed in 1000, 1500, or 2000 or 3000 B.C., no power on earth will ever determine.”

अर्थात्, दुनिया की कोई ताकत कभी भी यह पता नहीं लगा सकती कि वेद के सूक्त 1000, 1500, या 2000 या 3000 ई.पू. में लिखे गए। मैक्समूलर का विचार बदला। रोमिला थापर मैक्समूलर की पहली पवित्र तिथि को पकड़े रहीं। मैक्समूलर

की उस तिथि के प्रति उनकी भक्ति का राज समझ में नहीं आता। मैक्समूलर की प्रजातिवादी सोच भारतीय इतिहास को तोड़ने-मरोड़ने, उसे यूरो-केन्द्रित स्वरूप देने में सहायक बनी। इस प्रजातिवादी सोच को 1857 के असफल विद्रोह के बाद अंग्रेजों ने 'बाँटो और राज्य करो' की नीति के तहत आगे बढ़ाया! ल्याल ने विभिन्न जातियों/जनजातियों पर पुस्तकें लिखवाकर उनका अध्ययन कराया। उसने इस परिकल्पना को प्रचारित कराया कि भारत अनेक जातियों, जनजातियों, भाषाओं, धर्मों एवं समुदायों का विशृंखल समूह है, जिसे जोड़ने की कड़ी है अंग्रेजी साम्राज्य। उसने इन प्रकाशनों द्वारा प्रजातीय विभिन्नताओं एवं उनके बीच की संघर्षपूर्ण स्थिति की परिकल्पना को बढ़ा-चढ़ाकर पेश किया। मुख्यधारा एवं उससे कटे वर्गों के बीच संघर्ष की परिकल्पना (Core-fringe conflict; the conflict between the mainstream and the fringe), इसी प्रजातिवादी सोच की उपज थी। जाति से अलग जनजाति एवं उनके अलग-अलग धर्म की परिकल्पना, इसकी अगली कड़ी बनी। हर्बर्ट रिस्ले का भारतीय जातियों/जनजातियों का अध्ययन भारत का प्रजातिवादी अध्ययन ही था, जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

संस्कृत के अध्ययन एवं आर्य जाति की परिकल्पना से जर्मन लोग प्रभावित थे और उससे उनका हार्दिक लगाव हो गया था। इससे जर्मन लोगों के बीच उत्साह का संचार हुआ था। संस्कृत से जर्मनों के लगाव से अंग्रेज सशक्तित थे। जर्मन एकीकरण को कइयों ने संस्कृत प्रभाव से जोड़कर देखा। हेनरी माइन ने कहा,

“... .. A nation has been born out of Sankrit”

“... संस्कृत ने एक राष्ट्र को जन्म दिया है।”

अंग्रेज इसकी पुनरावृत्ति भारत में नहीं देखना चाहते थे। अतः उन्होंने संस्कृत विरोध के लिए कई कदम उठाए। संस्कृत जाननेवाली पुरोहित जाति (ब्राह्मणों) के विरोध में कलम चलाई जाने लगी। हिन्दू धर्म को ब्राह्मण धर्म करार दिया गया। दुबोय ने पहले ही इस्ट इण्डिया कम्पनी को लिखे अपने प्रसिद्ध पत्र में हिन्दुओं पर पुरोहितों का प्रभाव खत्म किए बिना ईसाइयत का प्रचार असम्भव बताया था। फिर 1857 के विद्रोह के अध्ययन के फलस्वरूप अंग्रेजों ने पाया था कि विद्रोह में शामिल अधिसंख्य सिपाही ब्राह्मण एवं राजपूत थे। अतः उन्होंने न केवल इन्हें सेना से निकाल बाहर किया; उनकी बहाली रोक़ी; बल्कि उनके विरुद्ध प्रचार भी शुरू किया। इस काम में ब्रिटिश प्रशासक एवं ईसाई मिशनरी एकजुट हो गए। भारत-विद्या के क्षेत्र में मिशनरियों का उस अवधि में अभूतपूर्व योगदान का एक कारण प्रशासन का ब्राह्मण विरोध एवं मिशनरियों की ब्राह्मण प्रभाव खत्म कराने की प्रबल इच्छा का होना ही था।

ऋषियों को तो मैक्समूलर ने बर्बर, असभ्य, लुटेरा आदि विशेषणों से विभूषित कर ही दिया था। अब ब्राह्मणों को लोभी, ठग आदि बनाया जाने लगा। क्षत्रिय विदेशी

शक, हूण आदि के वंशज; तथा वैश्य शोषक, सूदखोर, महाजन बना दिए गए। शिल्पों के विनाश ने शिल्पी वर्ग को दरिद्र खेतिहर मजदूर बना दिया था। इससे गरीबी बढ़ी थी। जर्मन राष्ट्र के उदय, जर्मनी के फ्रांस पर आक्रमण करने एवं नाजीवाद के उदय से अंग्रेज सशक्तित हुए। इंग्लैण्ड का निवासी जर्मन मैक्समूलर भी भयभीत हुआ। उसने आर्यों को एक भाषा वर्ग करार दिया। यह जल्दबाजी में उठाया गया कदम था। आर्य भाषा-भाषी वर्ग जो सुदूर मध्य एशिया में रहकर अलग भाषा बोलता हो तो प्रजाति एक कैसे होगी? इस बात का महत्व उसके लिए नहीं रह गया था। उसमें वस्तुनिष्ठता का अभाव था। ऋषियों को गाली देकर, देवासुर संग्राम को आर्य-द्रविड़ संघर्ष का रूप देकर उसने अपने को सफल मान लिया था। 1886 ई. में उसने लिखा था।

“The ancient religion of India is doomed and if Christianity does not step in, whose fault will it be?”

“भारत के पुराने धर्म का सत्यानाश हो चुका है और उसका स्थान अगर ईसाइयत नहीं लेती है तो किसका दोष होगा?”

गलती किसी की हो, पर ईसाइयत नहीं आई। प्रजातिवाद का बीज मैक्समूलर ने बोया था। आजादी के बाद वह बढ़कर फलने-फूलने लगा है। समूह की राजनीति का हास, वर्ग की राजनीति का उदय, जातिवादी राजनीति का प्रबल होना, आदि इसमें सहायक रहे हैं।

जाति विषयक हमारी परम्परा एवं उपनिवेशवादी सोच में कुछ मौलिक अन्तर है, जिसकी चर्चा हम करेंगे।

1. हमारी परम्परा के अनुसार जातियों का निर्माण एक के चार, फिर चार वर्णों के अनेक जातियों में बँटने से हुआ। उपनिवेशवादियों के अनुसार जातियों की उत्पत्ति अनेक जनजातियों के हिन्दू बनने की प्रक्रिया (Hinduization) से हुई।

2. हमारी परम्परा चारों वर्णों के बीच की गतिशीलता (two way mobility) को मान्य ठहराती है। ब्राह्मण बनने की प्रक्रिया द्वारा भारत के ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य शूद्र बने। कुछ क्षत्रिय जातियों का परशुराम के भय से पेशे में बदलाव के कारण तो कुछ का गोमांस भक्षण से वर्ण ढाँचे में पतन हुआ। पृषघ्न गोमांस भक्षण से शूद्र हो गए थे। सगर ने शक, यवन आदि का क्षत्रियत्व नष्ट किया। कुछ क्षत्रिय जरासंध के भय से बिखरे। वेद-बाह्य परम्परा के अनुपालन भी बदलाव का कारण बना। पुराणों में रजि का उल्लेख इसी संदर्भ में हुआ है। थारू, बनजारा आदि जनजातियों की परम्परा अपने क्षत्रियत्व से पतन का कारण मुसलमानों के अत्याचार से जोड़ती है।

कारण जो भी हो, विभाजन एवं शूद्रत्व की तरफ की गतिशीलता का जोर अधिक रहा। विश्वामित्र आदि के उदाहरण ऊपर की तरफ की गतिशीलता के

उदाहरण है, जिसकी चर्चा हम विस्तार से करेंगे। ब्राह्मण स्तोम द्वारा ब्राह्मण से ब्राह्मण आदि बनाने की बात पहले ही स्वीकृत हो गई थी।

उपनिवेशवादी गतिशीलता की दिशा नीचे से ऊपर की तरफ मानते हैं। जनजाति से जाति के निम्नतम स्तर पर प्रवेश, फिर संस्कृतिकरण द्वारा ऊपर जाना। श्रीनिवास का संस्कृतिकरण (Sanskritization) इसी विदेशी सोच के कारण उद्भूत हुआ।

प्रजातिवादी सोच एवं उससे उपजे संस्कृतिकरण के सिद्धान्त कुछ मौलिक भ्रान्तियों के शिकार रहे हैं। वे हैं

- (क) भारत में जातियो/जनजातियों की संख्या अधिक रही है, प्रजातीय तत्व कुछ ही रहे हैं। इनको आपस में जोड़ना तर्कसंगत नहीं है।
- (ख) वर्ण-व्यवस्था में अपने स्थान की परम्पराएँ जातियों के बीच जीवन्त, प्राणवान बनी रही हैं। वर्ण के ढाँचे में अपने उचित स्थान की माँग इस जीवन्त परम्परा के कारण होती रही, स्थिति सुधारने के लिए नहीं।

रिस्ले ने जातियों के अध्ययन को प्रजातीय आधार देने का प्रयास किया। उसका बड़ा कार्य नाक एवं सिर की लम्बाई-चौड़ाई पर आधारित प्रजातिवादी ढाँचा के विस्तार के लिए किया गया था। प्रजातिवाद सोच को वैज्ञानिक आधार देने का उसका प्रयास निष्फल रहा। नस्ल के इस ढाँचे में पंजाब के ब्राह्मण एवं चुहड़ा (भंगी) नजदीक थे। महाराष्ट्र का महार देशस्थ ब्राह्मण के साथ ऊपर था, चित्तपावन ब्राह्मण एवं अन्य जातियाँ नीचे। पंजाब का ब्राह्मण उत्तर प्रदेश के ब्राह्मण से दूर पड़ता था, बंगाल के ब्राह्मण से और अधिक दूर। जातियों की सामाजिक एवं, प्रजातीय स्थिति में तारतम्य के अभाव में रिस्ले की विश्वसनीयता पर ऊंगली उठी।

हमारे जाति सम्बन्धी अध्ययनों में विश्वामित्र के क्षत्रिय से ब्राह्मण होने की बात का बार-बार उल्लेख हुआ है। इस सन्दर्भ में विश्वामित्र एवं वशिष्ठ के आपसी विवाद एवं वैदिक दाशराज्ञ युद्ध का मूल कारण उनके पौराहित्य सम्बन्धी विवाद का जिक्र प्रायः नहीं किया जाता। विश्वामित्र प्रकरण का उल्लेख एक एकल प्रकरण के रूप में तथा वर्ण-बदलाव के विरोध के द्योतक घटना के रूप में किए जाने की परिपाटी सी चल पड़ी है। वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। मनु के सातवें पुत्र नाभानेदिष्ट वैश्य हो गए। उनके पुत्र भलन्दन एवं भलन्दन के पुत्र प्रांशु वैदिक ऋषि हो गए हैं। ऋग्वेद के नवम् मण्डल का 68वाँ एवं दसम मण्डल का 45वाँ एवं 46वाँ सूक्त वैश्य ऋषि प्रांशु का ही है। एक अन्य वैश्य ऋषि का उल्लेख भी हुआ है।

अम्बरीष पुत्र विरूप क्षत्रिय से ब्राह्मण मंत्रद्रष्टा ऋषि हो गए हैं। उनके पुत्र पृषदश्व भी ऋषि थे। राजा मांधाता का कुल दो भागों में बँट गया। एक में ब्राह्मण दूसरे भाग में क्षत्रिय। कण्व ऋषि एवं मेधातिथि आदि काण्वायण ब्राह्मण क्षत्रिय से ही

ब्राह्मण बने थे। वैदिक ऋषियों में क्षत्रोपेत ब्राह्मणों की लम्बी परम्परा रही है। राजा भूमन्यु के पुत्र नर एवं गर्ग, वृहत्क्षेत्र पुत्र सुहोत्र, हस्ती का पुत्र पुरुमीढ, आदि क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गए थे। गार्ग्य, कात्य, सांकृत्य आदि ब्राह्मणों की उत्पत्ति क्षत्रिय से हुई थी। वे क्षत्रोपेत ब्राह्मण थे। आर्षिषेण, देवापि एवं सिन्धुद्वीप के ब्राह्मणत्व की प्राप्ति भी कम उल्लेखनीय नहीं है।

रन्तिदेव क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गए थे। वशिष्ठ के कहने से वे ब्रह्मर्षि से राजर्षि हो गए, राज्य चलाने लगे। महीदास चाण्डाल थे। वे वैदिक ऋषि बने। ऐतरेय ब्राह्मण एवं ऐतरेय उपनिषद के साथ उनका नाम जुड़ा हुआ है। मातंग ऋषि भी चाण्डाल से ऋषि बने।

त्रिशिरा त्वाष्ट्र मंत्र-द्रष्टा ऋषि था। उसे ही वृत्र या वृत्रासुर कहा जाता है, जिसे मारकर इन्द्र को ब्रह्म-हत्या का पाप लगा था। उसे मारकर इन्द्र वृत्रघ्न, असुरघ्न तथा ब्रह्मघ्न बने थे। ऋग्वेद के दसम मण्डल के 8वें एवं 9वें सूक्तों के मंत्रद्रष्टा वृत्र ही थे।

भारत में वर्णों के बीच की गतिशीलता एवं सातत्य (mobility and continuum within Varna frame) को समझने के लिए इन बातों को जानना आवश्यक है। मध्यदेश में यह गतिशीलता बाधित हुई, पर अन्य क्षेत्रों में बहुत बाद तक बनी रही। महाभारत में कर्ण द्वारा शल्य से कही गई बातें पंजाब में वर्णसम्बन्धी गतिशीलता को उजागर करती हैं।

“उस देश में एक ही व्यक्ति पहले ब्राह्मण होकर फिर क्षत्रिय होता है। तत्पश्चात् वैश्य और शुद्र भी बन जाता है। इसके बाद वह नाई होता है। नाई होकर फिर ब्राह्मण हो जाता है। ब्राह्मण होने के पश्चात् फिर वही दास बन जाता है। वहाँ एक ही कुल में कुछ लोग ब्राह्मण और कुछ लोग स्वेच्छाचारी वर्णसंकर संतान उत्पन्न करते हैं।” महा. कर्णपर्व/45/6-8

वर्णों के बीच की गतिशीलता का एक कारण यह भी रहा है कि उनके बीच प्रजाति का अन्तर बिलकुल नहीं था। गीता में कहा गया है कि चारों वर्णों की उत्पत्ति गुण एवं कर्म के अनुसार हुई थी। ‘जन्म से जाति’ की बात का गौण महत्त्व था।

एक ही विराट पुरुष से उत्पत्ति के कारण वर्णों की मूलभूत एकता प्रतिपादित की गई थी।

चारों वर्णों की उत्पत्ति के विषय में पुरुष सूक्त (ऋक. 10/90) के बारहवें मंत्र का बार-बार उल्लेख किया जाता है। इसमें कहा गया है

“ब्राह्मण पुरुष के मुख थे, बाहु-स्वरूप राजन्य बने, उरू के समान वैश्य थे तथा पैरों से शूद्र उत्पन्न समझना चाहिए। पुरुष सूक्त यजुर्वेद के 31वें अध्याय में

भी संग्रहीत है। इस बात का उल्लेख महाभारत एवं पुराणों में भी बार-बार हुआ है। उपनिवेशवादी परम्परा के देशी विदेशी लेखक एवं समाज वैज्ञानिक प्रायः इसका उल्लेख गलत परिप्रेक्ष्य में करते हैं। वे मुख, बाहु, उरु एवं पैरों के अलग-अलग पर बहुत जोर देते हैं, पुरुष के एकत्व, विराटता, समग्रता एवं उदात्तता को नजर-अन्दाज करते हैं। विराट पुरुष के अंग उससे कटे हुए तथा अलग-थलग नहीं हैं। पुरुष सूक्त के कुछ अन्य मंत्रों पर दृष्टिपात करने पर इस परिकल्पना की उदात्तता को समझना आसान होगा।

“विराट पुरुष (ईश्वर) सहस्र (अनन्त) शिरों, सहस्र चक्षुओं और सहस्र चरणोंवाला है। वह भूमि को चारों ओर से व्याप्त करके और दस अंगुल ऊपर ठहरा हुआ है।”

“जो कुछ है और जो कुछ होनेवाला है वह सब पुरुष ही है। वह देवत्व का स्वामी है और अन्न के ऊपर है। यह सारा ब्रह्माण्ड उसकी महिमा है, वह तो अपनी प्रकट महिमा से भी बड़ा है। इस पुरुष का एक पाद ही ब्रह्माण्ड है। इसके अविनाशी तीन पाद तो दिव्य लोक में हैं।” ऋ. 10/90/1-3

आगे कहा है

“पुरुष के मन से चन्द्रमा, नेत्र से सूर्य, मुख से इन्द्र और अग्नि तथा प्राण से वायु उत्पन्न हुए।

पुरुष की नाभि से अन्तरीक्ष, शिर से द्यौ, चरण से भूमि, श्रोत्र से दिशाएँ; इस प्रकार लोकों की रचना हुई।”

महाभारतकार ने पुरुष-सूक्त के बारहवें मंत्र की बात को विस्तार दिया है, जो नीचे उद्धृत है

“पहले वर्ण में कोई अन्तर नहीं था। ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण यह सारा जगत ब्राह्मण ही था। पीछे विभिन्न कर्मों के कारण उनमें वर्ण भेद हो गया।”

महा/शान्तिपर्व/188/10

महाभारत में शूद्र द्वारा वैश्यत्व, क्षत्रियत्व एवं ब्राह्मणत्व की प्राप्ति सम्भव बताई गई है (महा/वन./212/11-12)। शूद्रजन्मा ब्राह्मण एवं ब्राह्मण जन्मा शूद्र (महा./वन./216/13-16), व्याधा एवं कुलाधार वैश्य द्वारा कौशिक ब्राह्मण को दिया गया उपदेश, आदि भी इन्हीं बिन्दुओं को उजागर करते हैं।

बुद्ध का निम्नलिखित वचन (मझिमनिकाय अध्याय 98) कर्म से जाति के सिद्धान्त का ही प्रतिपादक है। बुद्ध कहते हैं

“जन्म से न ब्राह्मण होता है, न जन्म से अब्राह्मण।

कर्म से ब्राह्मण होता है और कर्म से अब्राह्मण।”

बुद्ध फिर कहते हैं

“मनुष्यों में जो गोरक्षा से जीविका करता है ऐसे को कृषक जानो, ब्राह्मण नहीं; मनुष्यों में जो शिल्प से जीविका करता है, उसे शिल्पी जानो ब्राह्मण नहीं। मनुष्यों में जो व्यापार से जीविका करता है, उसे वणिक् जानो; ब्राह्मण नहीं। वशिष्ठ! प्रेषण से जीविका चलानेवाला प्रेष्यक, अदत्तदान की जीविकावाला चोर, इषु-अस्त्र से जीविकावाला योधाजीवी, ग्रामराष्ट्र का उपयोग करनेवाला राजा है, ब्राह्मण नहीं।”

“अप्राप्तित्तज-भुज्ज-शक्ति-स्वामित्वा-सम्बन्धी-विवरणमी, गाली, वध एवं बंधन को सहन करनेवाला क्षमा-शील-बहुश्रुत, व्रती, सत्य, अहिंसा आदि गुणों से युक्त व्यक्ति ही ब्राह्मण होता है।” नियम 8

1. दीर्घकाल (मान) में सोनदण्ड ब्राह्मण एक भगवान बुद्ध की रोचक कथा आई है। बुद्ध ब्रेकफ़ास्टने अर्धसोनदण्ड ने कहा : त्रैमासिक

3. हे सोनदण्ड, ब्राह्मण लोग पाँच अंगों से युक्त पुरुष भी ब्राह्मण कहते हैं। कौन से पाँच? : मुद्रक : डॉ. बी. बी. कुमार

1. ब्राह्मण दोनों ओर से सुजात हो। सचिव, आस्था भारती (क्या भारत के निवासी हैं?) हाँ, भारतीय

2. अध्यापक, मंत्रधर, वेद पारंगत हो। 3/504, ईस्ट एण्ड अपार्टमेंट

3. अभिरूप, दर्शनीय, अत्यन्त गौर वर्ण से युक्त हो। केस-1 विस्तार

4. शीलवान हो। दिल्ली-110096

5. प्रकाशित मेधावी, यज्ञ दक्षिणा ग्रहण करनेवाला हो। प्रह्लाद हो। भगवान बुद्ध ने उनमें से एक अंग को छोड़ने का कथन किया। सोनदण्ड ने वर्ण (रंग) को छोड़ा और कहा कि मैंने मंत्र एवं जाति को छोड़ा। बुद्ध ने उसे चौथा अंग छोड़ने को कहा। सोनदण्ड ने अस्वीकार किया और कहा कि वर्ण मंत्र एवं जाति के बिना ब्राह्मण होना सम्भव है। शील एवं ज्ञान के बिना नहीं। शील प्रकाशित प्रज्ञा एवं प्रज्ञा प्रकाशित शील के बिना ब्राह्मणत्व सम्भव नहीं। डॉ. बी. बी. कुमार

हमारी परम्परा प्रजातिवादी सोच को नकारती है। परम्परा की पवित्रता एवं खानपान का कोई सर्वमान्य रूढ़ि सोनदण्ड नहीं था। दीर्घकाल (1,3,3) में ब्राह्मण के अन्य वर्णों की स्त्रियों से उत्पन्न संतानों के ब्राह्मण होने तथा स्त्रियों में इसके निषेध की बात कही गई है। विश्वामित्र ने अकाल के समय भारत से मरने की स्थिति में

वाण्डाल का कूके का मांस चराने का प्रयास किया था। अस्त्र राक्षस आदि का मैं डॉ. बी. बी. कुमार उद्घोषित करता हूँ कि उपयुक्त विवरण मेरी जानकारी अनुसार विश्वामित्र के ब्रह्मसूक्त से ही है। प्रजातीय नहीं।

भारत में स्वतन्त्रता के बाद भी वैचारिक उपनिवेशवाद के बने रहने के कई कारण रहे हैं। हमारे बौद्धिक वर्ग की सीधी पहुँच हमारे ज्ञान के श्रोतों से न होकर प्रकाशक

डॉ. बी. बी. कुमार

अंग्रेजी अनुवादों के माध्यम से होती रही। उनमें हमारी परम्पराओं, धर्म, संस्कृति आदि की गलत व्याख्या की गई थी। भारतीय बौद्धिक वर्ग अपनी जड़ों से कटा रहा। भारत का धार्मिक, सांस्कृतिक एवं भाषायी सातत्य उसके लिए काम की वस्तु नहीं रही। विद्वानों का एक दल अपनी स्वीकृति तथा विचारों के लिए पश्चिम की तरफ तथा दूसरा रूस तथा चीन की तरफ ताकता रहा। उनके बीच संवादहीनता बढ़ी। इसे विडम्बना ही माना जाना चाहिए कि आजादी के बाद इस देश में आज तक वैचारिक उपनिवेशवाद को सबसे अधिक बल दूसरे वर्ग से ही मिलता रहा है। अंग्रेजों के जाने के बाद इस देश में मौलिक विचारकों के अभाव का सबसे बड़ा कारण वैचारिक उपनिवेशवाद (सफेद एवं लाल) का बना रहना ही है।

भौतिकवाद बनाम अध्यात्मवाद : स्थापना और संसिद्धि

डॉ. सरोज कुमार वर्मा*

“दर्शन के बिना दुनिया में कोई प्रगति नहीं हो सकती” कार्ल मार्क्स ने अपने पिता को एक पत्र में लिखा था। यदि यह सच है, और मुझे लगता है कि सच है, तो निश्चित रूप से आज दुनिया जिस तरह की है, उसमें दर्शन ने महत्वपूर्ण योगदान दिया होगा। भारत में भी दर्शन और जीवन को घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित माना गया है। डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार, “भारतीय दर्शन की रुचि मानव-समुदाय में है, किसी काल्पनिक एकान्त में नहीं। इसका उद्भव जीवन में से होता है और विभिन्न शाखाओं और सम्प्रदायों में से होकर यह पुनः जीवन में ही प्रवेश करता है।”¹ स्पष्ट है, ऐसी स्थिति में जगत् और जीवन की समस्याओं का कारण भी दर्शन होगा और उनके समाधान के सूत्र भी वहीं मिलेंगे। परन्तु किसी भी समस्या का समाधान तभी मिल सकता है जब पहले उसके कारणों की खोज कर ली जाए।

इसलिए मानव आज जिन समस्याओं से संघर्ष कर रहा है, जिनके कारण आज सम्पूर्ण जगत का अस्तित्व एकबारगी नष्ट हो जाने के कगार पर पहुँच गया है, उन कारणों की तलाश के लिए दार्शनिक सिद्धान्तों की पड़ताल जरूरी है। यह पड़ताल दर्शन के दो आधारभूत सिद्धान्तों भौतिकवाद तथा अध्यात्मवादकी दर्शन के दो मूल सैद्धान्तिक विभागों तत्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसाके अतिरिक्त एक व्यावहारिक विभाग नीतिमीमांसा के क्षेत्र में प्रासंगिक रूप से होनी चाहिए।

भौतिकवाद वह दार्शनिक सिद्धान्त है, जो जड़ को मूल सत्ता, प्रत्यक्ष को एकमात्र प्रमाण तथा भौतिक सुखों को जीवन का आत्यंतिक लक्ष्य मानता है। मानविकी पारिभाषिक कोश में इस सिद्धान्त की परिभाषा देते हुए कहा गया है “वह दार्शनिक सिद्धान्त जो भौतिक पदार्थ को किसी-न-किसी रूप में प्राथमिक माने। भौतिकवाद मानसिक या आत्मिक सत्ताओं को या तो बिलकुल ही अस्वीकार करता है, या उन्हें भौतिक पदार्थ के ही सूक्ष्म रूप समझता है।”²

इसके अनुसार भौतिक मूल तत्त्व से ही जगत् की सभी वस्तुओं की उत्पत्ति

* दर्शन विभाग, डॉ. राम मनोहर लोहिया महाविद्यालय, मुजफ्फरपुर, बिहार।

हुई है। कोई भी वस्तु चेतन नहीं है।

परन्तु जगत् में चेतन वस्तुओं का भी अस्तित्व है। फिर इस चेतना की व्याख्या कैसे की जाए? भौतिकवाद इसकी व्याख्या उपमा के आधार पर करता है। चार्वाक दर्शन, जो कि भौतिकवाद का शिरोमणि है, के अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चार मूल भौतिक तत्त्व हैं, जो नित्य हैं। इनमें चेतना अन्तर्निहित नहीं होती। परन्तु जब ये चारों आपस में मिलते हैं तो उनमें चेतना की उत्पत्ति हो जाती है, ठीक वैसे ही जैसे पान, कल्था, चूना और सुपारी के मिलने से लाल रंग उत्पन्न हो जाता है।³ डॉ. राधाकृष्णन के शब्दों में “चार तत्त्वों के उपस्थित रहने पर चेतन जीवन स्वतः उनके अन्दर से प्रकट हो जाता है, ठीक जैसे कि अलादीन के चिराग को रगड़ने से राक्षस प्रकट हो जाता था।”⁴ यह भौतिकवाद की तत्त्वमीमांसीय स्थापना है।

और इस स्थापना के आधार पर भौतिकवादी यह प्रतिपादित करते हैं कि शरीर ही सब कुछ है, उससे भिन्न कोई पृथक आत्मा नहीं है। आत्मा शरीर के साथ ही पैदा होती है और उसी के साथ नष्ट भी हो जाती है “चैतन्य विशिष्टःकाय पुरुषः।” पुनर्जन्म तथा मोक्ष जैसी अवधारणाओं की भी स्वीकृति नहीं दी जा सकती, क्योंकि ये अवधारणाएँ यह मानती हैं कि शरीर से पृथक आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व है और वह एक शरीर के नष्ट हो जाने पर दूसरे शरीर में प्रवेश कर जाती है। अपने इस प्रतिपादन को और विस्तार देते हुए भौतिकवादी यह भी कहते हैं कि इस जगत जीवन और जन्म के अतिरिक्त और कोई जगत जीवन और जन्म नहीं है। इसलिए इसी एक जगत जीवन और जन्म में सब कुछ समाप्त हो जाता है। जो कुछ है, बस वर्तमान है, अतीत या भविष्य कुछ भी नहीं है।

भौतिकवादी अपनी इन तत्त्वमीमांसीय स्थापनाओं की पुष्टि ज्ञानमीमांसीय स्थापनाओं के द्वारा करते हैं। अपनी ज्ञानमीमांसीय स्थापना के अन्तर्गत वे यह प्रतिपादित करते हैं कि “प्रत्यक्ष ही ज्ञान प्राप्ति का एकमात्र साधन है प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणम्।” अन्य दर्शनों में प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान और शब्द आदि अन्य प्रमाणों को भी स्वीकार किया गया है। इसीलिए वे अनुमानादि प्रमाणों का विस्तारपूर्वक खण्डन करके उन्हें दोषपूर्ण बतलाते हैं और यह स्थापित करते हैं कि प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। अब चूंकि आत्मा, मोक्ष, पुनर्जन्म, ईश्वर आदि का ज्ञान इन्द्रिय द्वारा नहीं होता, इसलिए वे सत्य नहीं हैं। चन्द्रधर शर्मा के शब्दों में “चार्वाक मत में प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है : अनुमान, शब्द आदि को प्रमाण मानना निराधार है। इन्द्रिय और अर्थ (विषय) के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है। रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द, यह पंचविध इन्द्रिय प्रत्यक्ष है। सुख-दुख आदि का अनुभव भी इस पंचविध प्रत्यक्ष पर निर्भर है। इस पंचविध इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा अनुभूत वस्तु प्रमाण सिद्ध है, अन्य सब वस्तुएँ कल्पना-प्रसूत हैं। रूप के अभाव में जो अदृष्ट है, रस के अभाव में जो अनास्वादित है, गंध के अभाव में जो अनाघ्रात है, स्पर्श के अभाव में जो अस्पष्ट

है और शब्द के अभाव में जो अश्रुत है, ऐसा पदार्थ कल्पित ही हो सकता है, वास्तविक नहीं।”⁵

भौतिकवादियों की इन तत्त्वमीमांसीय और ज्ञानमीमांसीय स्थापनाओं की सहज नीतिमीमांसीय निष्पत्ति उद्दाम और उच्छृंखल भोगवाद में होती है। वे नैतिकता के किसी मापदण्ड को स्वीकार नहीं करते। इसी एक जीवन और इसी एक शरीर को सत्य मानने के कारण वे इस जीवन में इस शरीर के द्वारा जितना अधिक-से-अधिक सुख उठाया जा सकता है, उठा लेना चाहते हैं। अनियन्त्रित भौतिक भोग उनके जीवन का आत्यान्तिक लक्ष्य बन जाता है। वे किसी भी संयमित आदर्श और मूल्य में विश्वास नहीं करते बल्कि इनकी कटु आलोचना करते हुए इन्हें धूर्तों और दुष्टों द्वारा अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए निर्मित सिद्धान्त मानते हैं। इसलिए वे ‘खाने, पीने और मौज करने’ की नीति प्रतिपादित करते हैं और कहते हैं कि “चूंकि मृत्यु में सब कुछ नष्ट हो जाता है, फिर कोई दूसरा जन्म नहीं होता, इसलिए इस जीवन में कर्ज लेकर भी घी पी लेना चाहिए।”⁶ डॉ. राधाकृष्णन उनकी इस नीति पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं “उपाधिरहित, स्वच्छन्द आनन्द-प्रमोदवाद ही भौतिकवादियों का नैतिक आदर्श है। खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ, क्योंकि मौत तो सबको आनी है, जो हमारे जीवनों को नष्ट कर देगी।...सुकृत कर्म प्रपंच अथवा भ्रांति मात्र है और सुख भोग ही यथार्थ सत् है। उक्त भौतिकवाद का आशय केवल इन्द्रियभोग एवं स्वार्थ परायणता, किंवा उत्कट इच्छा की पूर्ति करना मात्र है। विषय-वासना एवं नैसर्गिक प्रवृत्ति को वश में करने की कोई आवश्यकता नहीं।...”⁷

हिरियन्ना के अनुसार भी “चार्वाक दर्शन मनुष्य के चित्त को उच्चतर जीवन के विचार से निश्चय ही हटा देता है और इसे विषय-भोग की दुनिया में केन्द्रित कर देता है। वह गहराई में रहनेवाले तत्त्व की चेतना का गला घोट देता है। फलतः यदि इस दर्शन का कोई आदर्श प्रतीत होता हो, तो वह शुद्ध और सीधे सुखवाद का आदर्श है। मनुष्य का एकमात्र लक्ष्य इस जीवन में सुख और वह भी सिर्फ अपना प्राप्त करना है। समष्टि का सुख, यदि इसका विचार किया गया हो तो, व्यष्टि के सुख से अलग कोई चीज नहीं माना गया है, और किसी ऐसे सामान्य शुभ की धारणा इस दर्शन में नहीं है जिससे व्यष्टि के हितों को गौण माना जा सके। चार पुरुषार्थों में से चार्वाक धर्म और मोक्ष को अस्वीकार कर देता है। इस प्रकार मनुष्य के प्रयत्न के विषय केवल दो रह जाते हैं एक काम अथवा विषय-सुख और दूसरा अर्थ जो इसकी प्राप्ति का साधन है।”⁸

अध्यात्मवाद भौतिकवाद का विपरीत सिद्धान्त है। यह वह दार्शनिक सिद्धान्त है, जो आध्यात्मिक तत्त्व को मूल सत्ता, अपरोक्ष ज्ञान को सर्वाधिक प्रमाणिक प्रमाण तथा मोक्ष को जीवन का परम लक्ष्य मानता है। उल्लेखनीय है कि यहाँ ‘अध्यात्मवाद’ का प्रयोग व्यापक रूप में मूल तत्त्व को चेतन माननेवाले सभी दार्शनिक

सिद्धान्तोंप्रत्ययवाद, चेतनवाद आदि के लिए किया गया है। मानविकी पारिभाषिक कोश में इस सिद्धान्त की परिभाषा देते हुए कहा गया है—“कोई भी ऐसी वैचारिक प्रवृत्ति या ऐसा सिद्धान्त जिसमें सत्ता के आध्यात्मिक पक्ष को प्रधान माना जाए। समाज दर्शन और नीतिशास्त्र में, मानव-जीवन के आध्यात्मिक पहलू को आर्थिक या राजनैतिक पहलू से अधिक महत्वपूर्ण मानने की प्रवृत्ति।”⁹ दर्शन कोश¹⁰ में भी इस सिद्धान्त को “आत्मा को जगत् का मूल माननेवाला एक प्रत्ययवादी मत” बतलाते हुए यह कहा गया है कि “अध्यात्मवाद के प्रतिपादक यह मानते हैं कि आत्मा का शरीर से स्वतन्त्र अस्तित्व होता है।” इन परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि अध्यात्मवाद दर्शन का वह सिद्धान्त है, जो मूल तत्त्व को चेतन या आध्यात्मिक मानता है। इसलिए इसके अनुसार आत्मा, प्रत्यय या चेतना ही जगत् की आधारभूत सत्ता है। जगत् में जो कुछ भी है वह प्रत्यात्मक है। चेतन आत्मा ही एकमात्र परमार्थ तत्त्व है। अतः सृष्टि में कोई भी वस्तु भौतिक नहीं है।

लेकिन तब जो वस्तुएँ भौतिक दिखाई पड़ती हैं, वे क्या हैं? अध्यात्मवादी दर्शन के शिरोमणि अद्वैतवाद के अनुसार वे विवर्त हैं। अद्वैतवाद के प्रणेता शंकर का कहना है कि जगत् की सभी वस्तुएँ तत्त्वतः आध्यात्मिक हैं और जो वस्तुएँ भौतिक दिखाई पड़ती हैं वे प्रतीति मात्र हैं। इसलिए ऊपर से देखने पर यह जगत् भौतिक लगता है, परन्तु वास्तव में यह भौतिक है नहीं। सूक्ष्म रूप से परखने पर यह आध्यात्मिक सिद्ध होता है। शंकराचार्य उस मूल आध्यात्मिक सत्ता, जिसे वे ब्रह्म कहते हैं, से जगत् की व्याख्या रस्सी और साँप के उदाहरण के द्वारा करते हैं, जिस पर प्रकाश डालते हुए चन्द्रधर शर्मा लिखते हैं—“अद्वैत वेदान्त का सार श्लोकार्थ में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीव ब्रह्म ही है, उससे भिन्न नहीं—ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः। ब्रह्म और आत्मा एक है, दोनों परम तत्त्व के पर्याय हैं। जगत् प्रपंच माया की प्रतीति है। जीव और जगत् दोनों मायाकृत हैं। जिस प्रकार रज्जु भ्रम में सर्प के रूप में प्रतीत होती है और रज्जु का ज्ञान हो जाने पर सर्प का बाध हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म अविद्या या माया के कारण, जीव-जगत् प्रपंच रूप में प्रतीत होता है और निर्विकल्प अपरोक्ष ज्ञान द्वारा ब्रह्मानुभव होने पर जीव-जगत् प्रपंच का बाध हो जाता है। यही मोक्ष या आत्मस्वरूप का ज्ञान है।”¹¹

यहाँ पर थोड़ी देर ठहरकर यह स्पष्ट हो लेना चाहिए कि शंकर जब ब्रह्म को सत्य और जगत् को मिथ्या कहते हैं तो इसका यह अर्थ नहीं है कि ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर जगत् की सत्ता समाप्त हो जाती है, बल्कि इसका अर्थ यह है कि ब्रह्म का ज्ञान नहीं होने पर जगत् जैसा दिखाई पड़ता है, ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर वैसा दिखाई नहीं पड़ता। वास्तव में ब्रह्म और जगत् दो अलग-अलग सत्ताएँ नहीं हैं। वस्तुतः वे एक हैं—अद्वैत। इसलिए अज्ञान के कारण जो जगत् भौतिक दिखाई पड़ता है, ज्ञान हो जाने पर वही आध्यात्मिक ब्रह्म देखने लगता है। इसीलिए शंकर ने सत्ता की तीन

श्रेणियों की बात करते हुए ब्रह्म को पारमार्थिक और जगत् को व्यावहारिक श्रेणी में रखा है।

इस अवधारणा को महर्षि अरविन्द के प्रत्यावर्तन सिद्धान्त के द्वारा और अधिक स्पष्टता से समझा जा सकता है, जब वे कहते हैं कि यह ब्रह्म ही है जो विभिन्न सोपानों से उतरते हुए जड़ तक आता है और फिर उन्हीं सोपानों से चढ़ते हुए अपने मूल स्वरूप तक पहुँच जाता है। अतः जड़ और ब्रह्म में भेद सिर्फ चेतना की मात्रा का है। चेतना की न्यूनतम मात्रा जड़ है और उच्चतम मात्रा ब्रह्म। माचवे और दफ्तुआर अरविन्द के इस प्रत्यावर्तन सिद्धान्त के बारे में लिखते हैं—“इस अवरोहण की प्रक्रिया में इसके पश्चात् परम सत्ता पदार्थ तक पहुँचती है जहाँ चैतन्य समाप्त हो जाता है। यही अन्तिम अवस्था है। ब्रह्म क्रीड़ा की इच्छा से अपने को गहन अज्ञान में डुबो कर मूर्त हो जाता है एवं साकार स्थूल रूप ग्रहण करता है। इसी से पुनः प्रत्यावर्तित होकर वह अपनी आरोहण यात्रा प्रारम्भ करता है। इसी कारण अरविन्द मन, जीवन एवं पदार्थमय जगत् को सत्य मानते हैं। जड़ परम चैतन्य का विरोधी नहीं, उसी का स्वतः परिवर्तित निम्नतर रूप है।”¹² तैत्तिरीय उपनिषद्¹³ में इसे पंचकोशों के माध्यम से समझाया गया है। और बीसवीं सदी के दार्शनिक ओशो भी कहते हैं “...परमात्मा और संसार में फासला नहीं है, ये एक ही चीज के दो ढंग हैं।...सृष्टि और स्रष्टा दो नहीं है, सृष्टि स्रष्टा का ही विस्तार है।”¹⁴

अध्यात्मवादी, चूँकि अपनी तत्त्वमीमांसीय स्थापनाओं में यह प्रतिपादित करते हैं कि आध्यात्मिक मूल सत्ता ही अज्ञान के कारण भौतिक जगत् के रूप में दिखाई पड़ता है, इसलिए वे अपनी ज्ञानमीमांसा में ज्ञान-प्राप्ति पर सर्वाधिक बल देते हैं, और उनके अनुसार ज्ञान का अर्थ उसी आध्यात्मिक मूल सत्ता, जिसे अद्वैतवादी ब्रह्म कहते हैं, का ज्ञान प्राप्त करना है। यह ज्ञान अपरोक्ष होता है, क्योंकि इसमें मूल सत्ता का ज्ञान किसी माध्यम के द्वारा नहीं बल्कि साक्षात् होता है। इसलिए अध्यात्मवादी यद्यपि प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि इन छः प्रमाणों को स्वीकार करते हैं, परन्तु इन्हें परोक्ष ज्ञान के अन्तर्गत रखते हुए कहते हैं कि इनके द्वारा उस मूल सत्ता का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि ये देश-काल और इन्द्रियों की सीमा से बँधे हुए हैं, जबकि परम तत्त्व असीम है। इसलिए इसका ज्ञान अपरोक्ष ही हो सकता है। शंकर के अनुसार ब्रह्म ज्ञान का अवसान अपरोक्ष अनुभव में होता है।¹⁵ “ज्ञान ब्रह्म को इदंतया विषय नहीं बनाता, वह ब्रह्म को अविषय बताते हुए अविद्या कल्पित ज्ञात-ज्ञेय भेद की निवृत्ति से अपरोक्षानुभूतिगम्य प्रतिपादित करता है—अविद्याकल्पित भेद निवृत्ति परत्वात्। ब्रह्म-ज्ञान सविकल्पक बौद्धिक ज्ञान नहीं है, अपितु निर्विकल्प अपरोक्षानुभूति है।”¹⁶ शंकर इसी ब्रह्म ज्ञान को मोक्ष कहते हैं। “मोक्ष आत्मा या ब्रह्म के स्वरूप की अनुभूति है। आत्मा या ब्रह्म नित्य शुद्ध चैतन्य एवं अखण्ड आनन्द स्वरूप है। आत्मा ज्ञान स्वरूप है और मोक्ष आत्मा का स्वरूप ज्ञान है। जिस प्रकार

भगवान बुद्ध के अनुसार अद्वैत परमतत्त्व और निर्वाण एक ही है, उसी प्रकार शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म और मोक्ष एक ही है।¹⁷ इसीलिए मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है—“ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है।”¹⁸

अध्यात्मवादियों की इन तत्त्वमीमांसीय और ज्ञानमीमांसीय स्थापनाओं की सहज नीतिमीमांसीय निष्पत्ति मूल्यवाद में होती है। चूँकि वे ब्रह्म या आत्मा को मूल तत्त्व मानते हुए यह भी मानते हैं कि सबों में वही एक आत्मा निवास करती है, इसलिए स्वाभाविक रूप से प्रेम, दया, करुणा, अहिंसा, सहिष्णुता, सहयोग आदि मूल्य इससे निःसृत होते हैं, क्योंकि दूसरे को किसी प्रकार का कोई कष्ट देना वस्तुतः स्वयं को ही कष्ट देना है। इस प्रकार अध्यात्मवादी एक ऐसी नीतिमीमांसीय अवधारणा को प्रतिपादित करने में सफल होते हैं जिसमें लोक-मंगल और सर्व-कल्याण की भावना निहित होती है और जिसके दायरे में केवल मानव नहीं, बल्कि सम्पूर्ण विश्व और विश्व के सभी प्राणी समाहित हो जाते हैं। ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब सुख केवल भौतिक नहीं हो बल्कि चेतना के स्तर पर भी संतुष्टि प्राप्त की जाए। इसलिए अध्यात्मवादी केवल शारीरिक सुख को ही जीवन का आत्मांतिक लक्ष्य नहीं मानते अपितु आत्मिक आनन्द को जीवन का परम लक्ष्य घोषित करते हैं। परन्तु इस घोषणा में वे शरीर की सर्वथा उपेक्षा नहीं करते। वे उसकी भी अपनी महत्ता और उपादेयता स्वीकारते हैं। उनके अनुसार शरीर साधन है, साध्य नहीं। साध्य आत्मज्ञान है। शरीर इसमें सहयोगी होता है। इसीलिए वे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों को स्वीकारते हैं, परन्तु इनमें से मोक्ष को सर्वोच्च पुरुषार्थ मानते हुए शेष तीन को इसकी प्राप्ति का साधन बतलाते हैं। यद्यपि मोक्ष औपनिषदिक काल में वैयक्तिक अवधारणा रही है, परन्तु समकालीन दर्शन तक आते-आते इसका व्यापक विकास हो चुका है। इसलिए अब अध्यात्मवादी वैयक्तिक नहीं बल्कि सामूहिक मोक्ष की आकांक्षा करते हैं। महर्षि अरविन्द ने इस सामूहिक मोक्ष की अवधारणा पर विस्तार से विचार किया है तथा इस क्रम में उन्होंने दिव्य जीवन और प्रज्ञानी पुरुष की भी चर्चा की है। रमेश चन्द्र सिन्हा तथा विजय श्री चन्द्र उनकी इस अवधारणा के बारे में लिखते हैं—“श्री अरविन्द के अनुसार मोक्ष मानव का लक्ष्य है। वह व्यक्तिगत मोक्ष या व्यक्तिगत रूप में दिव्यता प्राप्त करने में नहीं है।...श्री अरविन्द का दिव्य पुरुष अपनी मुक्ति के साथ-साथ, अपनी दिव्यता के साथ-साथ सर्वमुक्ति या *द डिवाइन लाइफ ऑन अर्थ* की कामना करता है।”¹⁹

भौतिकवाद और अध्यात्मवाद इन दोनों दार्शनिक सिद्धान्तों के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये दोनों तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा और नीतिमीमांसा इन तीनों विभागों में एक दूसरे के विपरीत हैं। भौतिकवाद में जहाँ जड़ और चेतना का द्वैत बना रखा जाता है, क्योंकि उपमा के द्वारा भूत से चेतना की उत्पत्ति बताने के कारण वहाँ इन दोनों के सम्बन्ध की सफल व्याख्या नहीं हो पाती है। अध्यात्मवाद में यह द्वन्द्व

समाप्त हो जाता है क्योंकि वहाँ एक ही आध्यात्मिक तत्त्व को मानते हुए उनकी न्यूनतम मात्रा को ही भूत कहा जाता है। फिर ज्ञानमीमांसा में भी भौतिकवादी जहाँ प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मानते हैं, वहाँ अध्यात्मवादी प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य पाँच प्रमाणों को स्वीकार करते हुए अपरोक्ष ज्ञान को ज्ञान प्राप्ति का सर्वोच्च साधन बतलाते हैं। ऐसा करने के कारण भौतिकवादी जहाँ मात्र जड़ वस्तुओं को ही सत्य मान पाते हैं वहाँ अध्यात्मवादी चेतन और आध्यात्मिक तत्त्वों की भी सत्ता स्वीकार कर पाते हैं। और इसी तरह नीतिमीमांसा में भी भौतिकवादी जहाँ केवल निजी भौतिक सुख को ही सर्वोपरि मानते हैं, वहाँ अध्यात्मवादी सामूहिक आत्मिक आनन्द को सर्वोपरि बतलाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जहाँ भौतिकवादी स्वार्थ-सिद्धि को ही जीवन का चरम आदर्श मानने लगते हैं, वहाँ अध्यात्मवादी सर्वहित को जीवन का परम आदर्श प्रतिपादित करते हैं।

जैसा कि प्रारम्भ में कहा गया है कि विश्व के निर्माण में दर्शन की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है, क्योंकि वह जीवन से गहरे जुड़ा होता है। इसलिए इन दो आधारभूत दार्शनिक सिद्धान्तों की विवेचना के बाद अब यह पड़ताल आवश्यक होगी कि अभी दुनिया का जो स्वरूप है, जीवन की जो शैली है, व्यक्ति और समाज के जो सम्बन्ध हैं तथा मनुष्य प्रकृति और प्रकृति के अन्य प्राणियों के साथ जैसा व्यवहार करता है, इन सबका सूत्र किस दार्शनिक सिद्धान्त से जुड़ा हुआ है? यह पड़ताल आसान हो जाएगी यदि आज के मानव, उसकी दुनिया और उसकी जीवन-पद्धति की मूल प्रवृत्तियों को चिन्हित कर लिया जाए। इसके लिए यदि हम आज के मूल्यों, योजनाओं और परिकल्पनाओं पर दृष्टि डालें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इन सबका केन्द्र अर्थ है। धन, पद, सत्ता और शक्तिये ही मात्र मूल्य, विकास के पैमाने, योजनाओं की रूप-रेखाएँ तथा परिकल्पनाओं के आधार बन गए हैं। सारा विश्व, सारा जीवन, सारे सम्बन्ध बस इन्हीं के इर्द-गिर्द घूमते और इन्हीं से संचालित होते हैं। चार पुरुषार्थों में से एकमात्र पुरुषार्थ अर्थ व्यक्ति, समाज और देश सबका अभीष्ट हो गया है। और यही आज का सबसे बड़ा संकट है, सबसे बड़ी त्रासदी है। गाँधीवाद के अध्येता श्री राजीव वीरा कहते हैं—“आधुनिक सभ्यता में दो ही पुरुषार्थ बचे हैं, अर्थ और काम। अर्थ का तब तक कोई मूल्य ही नहीं है, जब तक वह किसी प्रयोजन से न बँधे। अर्थ का प्रयोजन काम है, यही आज के उपभोक्तावाद का जनक है।”²⁰

जाहिर है कि काम को केन्द्र में रखकर आदमी को आर्थिक माननेवाले शास्त्र-चिन्तन का सूत्र भौतिकवादी विचारधारा से जुड़ा है, क्योंकि भौतिकवाद ही दर्शन का वह सिद्धान्त है जो अपनी नीतिमीमांसा में अर्थ और काम को जीवन का पुरुषार्थ मानता है। उसके लिए ही भौतिक सुख जीवन का सर्वोच्च सुख और अपना हित सर्वोच्च मूल्य है। इसलिए यह स्पष्टतया सुनिश्चित होता है कि आज विश्व का जो रूप है, जीवन की जो पद्धति है, मानवता का जो मूल्य है तथा व्यक्ति, समाज और

प्रकृति के जो सम्बन्ध हैं, वह भौतिकवादी चिन्तन का ही व्यापक विस्तार और दीर्घकालिक परिणाम है।

नीतिमीमांसा की तरह भौतिकवाद की ज्ञानमीमांसा से भी आज के समय के संकट के तार जुड़े हैं। इसलिए कि वह प्रत्यक्ष को एकमात्र प्रमाण मानने के कारण सिर्फ भौतिक वस्तुओं को ही सत्य मानता है, क्योंकि केवल उन्हीं का प्रत्यक्ष हो पाता है। स्वाभाविक रूप से इसकी परिणति भौतिक उपलब्धियों में होती है। वही उपलब्धि एकमात्र सत्य मानी जाती है जो भौतिक हो। फिर विकास का एकमात्र पैमाना भौतिक समृद्धि हो जाता है। शरीर के सारे सुख सफलता की अनिवार्य शर्त बन जाते हैं। इसके अतिरिक्त कोई भी आत्मिक उपलब्धि बेमानी हो जाती है। आत्मबोध, आत्मिक आनन्द आदि की बात करनेवाला अविकसित और अंधविश्वासी मान लिया जाता है। आज यही हो रहा है। परिणामस्वरूप दया, करुणा, प्रेम, अहिंसा आदि मूल्य तिरोहित हो गए हैं। जीवन और जगत् में उनकी कोई जगह नहीं रह गई है, क्योंकि ये भौतिक नहीं हैं, इनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इस प्रकार आज की क्रूर स्वार्थपरता भौतिकवादी ज्ञानमीमांसा की स्वाभाविक निष्पत्ति है।

और इसी तरह भौतिकवादी तत्त्वमीमांसा भी आज की त्रासदी का एक ठोस कारण है। इसमें भूत को मूल तत्त्व और चेतना को उसका आकस्मिक गुण बताते हुए यह माना जाता है कि चेतना भूत के साथ उत्पन्न होती है और उसी के साथ समाप्त हो जाती है। इसका सहज परिणाम यह होता है कि भूत केन्द्र में हो जाता है और चेतना हाशिए पर चली जाती है। फिर शरीर प्रधान हो जाता है और आत्मा दोयम स्थान ले लेती है। और तब एकमात्र शरीर और उसके सुख की ही प्रधानता दी जाने लगती है तथा चेतनागत मूल्यों को गौण समझा जाने लगता है। आज ऐसा ही हो रहा है। शरीर से लेकर संवेदना तक सब कुछ की खरीद-फरोख्त हो रही है। मानव से लेकर प्रकृति तक हर चीज का दोहन हो रहा है। केवल शरीर के लिए। शरीर के सुख के लिए। सुख प्राप्ति के साधन धन के लिए। यह भौतिकवादी तत्त्वमीमांसा का तार्किक प्रतिफल है।

इस प्रकार यह सुनिश्चित हो जाता है कि आज के संकट का आधारभूत कारण दर्शन का भौतिकवादी सिद्धान्त है। आज की जितनी समस्याएँ हैं, अनाचार, अनैतिकता, उपभोक्तावाद, साम्राज्यवाद, विखण्डनवाद आदिसबों के मूल में भौतिक सुख है जिसका आधार भौतिकवादी चिन्तन है और इस चिन्तन का सूत्र दर्शन के भौतिकवाद से जुड़ा है। इसलिए यह भौतिकवादी दर्शन ही है जिसने दुनिया को इस परिस्थिति में ला खड़ा किया है, जहाँ सम्पूर्ण जीवन और जीवन की सारी सम्भावनाएँ नष्ट हो जाने के निकट पहुँच गई हैं।

अध्यात्मवाद चेतना को मूल मानता है और उसकी न्यूनतम मात्रा को ही जड़ कहता है, इसलिए स्वाभाविक रूप से इन दोनों में कोई भेद नहीं करता, जिसकी सहज निष्पत्ति यह होती है कि मनुष्य, मनुष्य के अतिरिक्त सारी प्रकृति और प्रकृति के सभी प्राणियों के साथ-साथ निर्जीव वस्तुओं के साथ भी आत्मवत सम्बन्ध कायम करना चाहता है, क्योंकि मूलतः सब एक ही है, एक ही चेतन तत्त्व की अनन्त अभिव्यक्तियाँ। फिर किसी दूसरे के साथ किसी प्रकार का कोई अनिष्ट करना अन्ततः अपना ही अनिष्ट करना है। इसलिए यह सिद्धान्त किसी विरोध और विजय में विश्वास नहीं करता बल्कि सहयोग और सहअस्तित्व को स्वीकार करता है, क्योंकि यहाँ द्वैत है ही नहीं। अद्वैत है। कोई दूसरा नहीं है, जिससे अपनी सुरक्षा करनी है, जिससे बचाकर धन संग्रह करना है, जिसको पराजित कर स्वयं विजय प्राप्त करनी है, जिसको दुख देकर स्वयं सुखी होना है। इसलिए साम्राज्यवाद, उपभोक्तावाद, अनैतिकता, अनाचार, हिंसा तथा स्वार्थपरता आदि आज के समय, समाज, व्यक्ति और विश्व की इन सभी समस्याओं का समाधान दर्शन के अध्यात्मवादी सिद्धान्त में मिल सकता है। इसके सूत्र वहीं तलाशे जाने चाहिए। भौतिकवाद ने हमें विकृष्ट कर दिया है, अध्यात्मवाद हमें निश्चित कर सकता है।

सन्दर्भ

1. डॉ. राधाकृष्णन, 'भारतीय दर्शन' (प्रथम खण्ड), पृष्ठ 20, राजपाल एण्ड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली, 1986.
2. मानविकी पारिभाषिक कोश (दर्शन खण्ड), पृष्ठ 113, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पटना, 1998.
3. जड़ भूत विकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते।
ताम्बूल पूग चुर्णानां योगाद्राग इवोत्थितम्।
सर्वसिद्धान्त सारसंग्रह, 2 : 7.
4. वही, पृष्ठ 226.
5. शर्मा, चन्द्रधर, 'भारतीय दर्शन : आलोचना और अनुशीलन' पृष्ठ 23, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-7, 1990.
6. यावज्जीवेत सुखं जीवेत ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥ बार्हस्पत्यसूत्र, 85.
7. वही, पृष्ठ 227-228.
8. हिरियन्ना, एम., 'भारतीय दर्शन की रूपरेखा,' पृष्ठ 194, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पटना, 1980.
9. वही, पृष्ठ 184.
10. दर्शन कोश, पृष्ठ 15, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1988.

11. वही, पृष्ठ 248-249.
12. माचवे, डॉ. प्रभाकर, दफ्तुआर, सुरेन्द्र नारायण, 'आधुनिक भारत के विचारक,' पृष्ठ 47, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1998.
13. चन्द्रधर शर्मा द्वारा उद्धृत, 'भारतीय दर्शन : आलोचना एवं अनुशीलन,' पृष्ठ 9-10.
14. ओशो, 'कस्तूरी कुंडल बसै,' पृष्ठ 286, ताओ पब्लिशिंग प्रा. लि., 50 गोरगांव पार्क, पूना।
15. अनुभवावसानत्वात्, भूतवस्तुविषयत्वात् च ब्रह्मज्ञानस्य। शा.भा., 1-1-4.
16. चन्द्रधर शर्मा, 'भारतीय दर्शन : आलोचना एवं अनुशीलन,' पृष्ठ 272.
17. वही, 267.
18. ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति ऽमुण्डकोपनिषद्, 3-2-9.
19. सिन्हा, डॉ. रमेश चन्द्र तथा चन्द्र, डॉ. विजयश्री, 'समकालीन भारतीय चिन्तक,' पृष्ठ 53, जानकी प्रकाशन, अशोक राजपथ, चौहट्टा, पटना-800004, 1983.
20. वीरा, श्री राजीव, 'इक्कीसवीं शती में गाँधीवाद का भविष्य,' 'वागर्थ', अंक-75, सितम्बर 2001 (नई शती का भविष्य विशेषांक), पृष्ठ 154, भारतीय भाषा परिषद्, 36ए, शेक्सपीयर सरणी, पो. बॉक्स नं.-16130, कोलकाता-17.

पूर्वाग्रह-विहीन इतिहास-दृष्टि

प्रणव कुमार*

सन् 2004 ई. की संसदीय मतदान के पश्चात् कांग्रेस संसदीय पार्टी की प्रथम बैठक में एक-एक कर सभी नवनिर्वाचित सांसद सोनिया गाँधी से अनुनय-विनय करते रहे कि वे उनका नेतृत्व करते हुए राष्ट्र के प्रधानमन्त्री पद पर आरुढ़ हो जाएँ। टी.वी. पर प्रत्यक्ष कार्यक्रम के अन्तर्गत आत्मधिकार की प्रक्रिया घण्टों चलती रहीवे चाहतीं तो राष्ट्रीय स्वाभिमान को धूल-धुसरित करनेवाले इस नाटकीय मंचन को तत्समय रोक सकती थीं। शताब्दियों की राजनीतिक दासता के पश्चात् यह नव-स्वतन्त्र राष्ट्र के आत्मविश्वास पर असंवेदनशील नेतृत्व का तीव्र प्रहार था।

विचारधारा से व्यक्तिवाद की ओर प्रयाण करती भारतीय जनता पार्टी द्वारा अपनी नीतियों के परित्याग तथा कार्यकर्त्ताओं की उपेक्षा के कारण हुई सन् 2004 ई. की इस 'अप्रत्याशित' पराजय के लिए वाजपेयी महोदय उत्तरदायी हैं। इस जनादेश को नम्रतापूर्वक वे स्वीकार करें, इसकी अपेक्षा भी भारतीय जन करते हैं।

मार्क्सवादियों द्वारा समर्थित कांग्रेसी प्रशासन के विषय में 'तुगलक' के सम्पादक ने लिखा कि निर्वात की स्थिति में अनिष्टकर गैसें भर जाती हैं, तो 'द पॉयनियर' के सम्पादक श्री चंदन मित्र ने जनता की परिपक्वता पर प्रश्नचिह्न लगाया। अलेक्सांद्र सोल्झेनित्सिन ने भी कहीं लिखा है कि वयस्क मताधिकार द्वारा कब और कहाँ शासकों के रूप में उत्कृष्ट विचारकों का चयन हो सका है। भारतीय अर्थव्यवस्था के सार्थक टिप्पणीकार श्री अय्यर ने, जो 'टाइम्स ऑफ इंडिया' में रविवासरय स्तम्भ लिखते हैं, "मैंने तो पहले ही कहा था वाली मुद्रा" ग्रहण की तो कुछ रोचक प्रतिक्रिया भी देखने में आई। 'उदार' बौद्धिकों के प्रवक्ता दिलीप पदगाँवकर ने लिखा कि सोनिया द्वारा प्रधानमन्त्री पद ग्रहण करना 'सर्वोच्च वेदान्तिक आदर्शों' के अनुरूप होतावेदान्त की उनकी समझ पर यह सार्थक टिप्पणी है। श्री श्री रविशंकर ने कृष्ण को 'कम्यूनियम का पिता' अभिहित कर डाला। उधर कतिपय मिथकों का सुजन भी कर लिया गया कि श्रीमती गाँधी प्रधानमन्त्री पद के लिए कभी लालायित नहीं थीं। श्रीमती गाँधी को प्रधानमन्त्री पद के लिए राष्ट्रीय अनुमोदन प्राप्त है। जबकि तथ्य यह है कि कांग्रेस द्वारा लड़े गए निर्वाचन क्षेत्रों में से 65% प्रतिशत स्थानों पर वह पार्टी पराजित हुई

*प्रशिक्षण से यात्रिक अभियंता, लेखक इतिहास के अध्येता हैं।

थी। द्रविड़ प्रगतिवादी दल (डी.एम.के.) ने सोनिया के सत्ता त्याग की उद्घोषणा के पश्चात् ही प्रशासन में सम्मिलित होना स्वीकारा। एन.सी.पी. ने भी मनमोहन सिंह के प्रधानमंत्री बनने की घोषणा के दो दिनों पश्चात् ही मन्त्रिमंडल में सम्मिलित होना स्वीकार किया। एक अन्य मिथक का उल्लेख करना भी समीचीन है।

मनमोहन सिंह को भारत में आर्थिक सुधारों का अग्रदूत कहा गया। जबकि प्रधानमंत्री राव के, जिन्होंने आर्थिक उदारीकरण, वैश्वीकरण तथा विनिवेश की दिशा में महत्वपूर्ण कार्यारम्भ किया था, पूर्व के प्रशासनों में महत्वपूर्ण आर्थिक दायित्वों तथा पदों का निर्वहण करते हुए श्रीमान् सिंह ने कभी राजनीतिक नेतृत्व द्वारा अधिरोपित अनुर्वर समाजवादी आर्थिक नीतियों का विरोध किया हो, ऐसा ज्ञात नहीं। मनमोहन सिंह सौम्य नौकरशाह रहे हैं। मौलिक निर्णय लेने में वे अक्षम थे। उधर वाचाल वामपंथियों द्वारा समर्थित प्रशासन की अराजक आर्थिक नीतियों की आशंका में शेयर बाजार 129 वर्षों में सबसे नीचे लुढ़क गया 1,26,000 करोड़ रु. से अधिक स्वाहा हो गया।

स्वतन्त्रता पूर्व काल में ही नेहरू की अर्थव्यवस्था विषयक अधूरी समझ के कारण कांग्रेस वाममार्ग पर चलने लगी थी। 1931 ई. के कराची प्रस्ताव में रेल, नौकायन तथा खनिजों के राष्ट्रीयकरण का समर्थन किया गया था। आर्थिक आयोजन समिति (इकॉनॉमिक प्रोग्रैम कमिटी) ने सन् 1947 ई. में मुख्य उद्योगों का 5 वर्षोपरान्त राष्ट्रीयकरण करना स्वीकार करके उद्योगपतियों को हतोत्साहित कर डाला। उद्योगपतियों द्वारा प्रस्तावित 'बाम्बे प्लान' (1945) का अस्वीकरण भारी भूल सिद्ध हुई। हाँ, अस्तित्व बनाए रखने में सक्षम अर्थव्यवस्था (subsistence economy) के पक्षधर श्रीमन्नारायण के गाँधीवादी प्लान की अस्वीकरण यथायोग्य था। गलत नीतियाँ कभी लाभप्रद सिद्ध नहीं हुई। 'मार्शल प्लान' को अंगीकार करके द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर काल में सर्वथा विनष्ट पश्चिमी योरोप थोड़े से समय में आर्थिक विकास के उच्च मानकों को प्राप्त कर सका, जबकि सोवियत संघ के नेतृत्व में 'मोलोतोव योजना' स्वीकार करने के कारण पूर्वी योरोपीय राष्ट्र अकिंचन बने रहे। निकट ही, मात्र तीन दशकों में, वैश्वीकरण तथा बाजारवाद को अपनाकर दक्षिण-पूर्व एशियाई राष्ट्र घनाढ्य हो गए, तथा चीन भी सन् 1978 ई. में उदारीकरण की नीति का वरण करके गरीबी रेखा के नीचे जीवन-यापन करनेवालों की संख्या में भारी कमी लाने में सफल हुआ जबकि हम नेहरू की अदूरदर्शी समाजवादी नीतियों के कारण 'आदर्श प्रगतिशील राष्ट्र' से 'बास्केट केस' (basket case) बन गए। इन्दिरा गाँधी आर्थिक विनाश के मार्ग पर बढ़ती रही। 1969 में बैंकों का राष्ट्रीयकरण ही नहीं, 'मोनोपोलीज एण्ड रेस्ट्रिक्टिव प्रैक्टिसिज एक्ट' (एम.आर.टी.पी.) भी पारित कर दिया गया। सन् 1972 ई. में बीमा-क्षेत्र का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया, तो एक वर्ष पश्चात् 'फेरा' (फॉरेन एक्सचेंज एण्ड रेग्यूलेशन एक्ट) प्रवर्तित करके उद्योगपतियों को भयभीत कर दिया

गया। आयात-प्रतिस्थापन औद्योगिकीकरण (Import Substitution Industrialisation) की नीति ने स्थानीय उद्योगों को प्रभूत सुरक्षा प्रदान करके भारतीय उद्योगों को अक्षम तथा तकनीकी दृष्टि से पिछड़ा बना दिया। 'लाइसेंस-कोटा राज' ने अदूरदर्शी राजनेताओं, नौकरशाहों तथा उद्योगपतियों एवं व्यवसायियों के भ्रष्ट वर्गों को समर्थित कर स्वच्छ भारतीय उद्यमियों में हतोत्साह का संचरण कर दिया। नैतिकता के मानक ही बदल गए। अनुसंधान तथा नवाचारों की आवश्यकता ही नहीं रही। आयात-प्रतिस्थापन के कारण बाह्य जगत् से प्रतिस्पर्द्धा नहीं रही तो 'लाइसेंस-परमिट-राज' ने आन्तरिक प्रतिस्पर्द्धा नष्ट कर दी। लाइसेंस परमिट राज के वास्तविक कार्यान्वयन के विषय में डॉ. आर.के. हजारी ने क्षोभजनक रहस्योद्घाटन किया था कि बिड़ला समूह ने प्राप्त किए गए लाइसेंसों का 50% भी उपयोग नहीं किया था। क्या यहाँ की आर्थिक-राजनीतिक परिस्थितियाँ उत्तरदायी नहीं थीं कि सबीर भाटिया, राना तलवार, लक्ष्मी मित्तल, अरुण नेत्रवली, रोने दत्ता तथा 'सिकिलन वैली' के सहस्रों भारतीय मूल के लोग स्वदेश में ही करोड़पति नहीं बन पाए।

सन् 1914 ई. में विश्व-व्यापार में भारत की भागीदारी 2.5% थी, भारत में विश्व का तीसरा सबसे बड़ा रेल-परिवहन तंत्र था, और यहाँ विश्व का सबसे बड़ा जूट उत्पादन उद्योग था। परन्तु कृषि क्षेत्र निस्तेज थाफलस्वरूप औद्योगिक क्रांति नहीं हुई। स्वातंत्र्योत्तर काल में हरित क्रान्ति सफल हो गई परन्तु 'उड़ान की अवस्था' (take off) हम प्राप्त नहीं कर पाए; जबकि उसके लिए आवश्यक 10-12% राष्ट्रीय निवेश के स्थान पर हम दो दशकों से अधिक समय से 20% से अधिक निवेश कर रहे हैं। तो क्या वाल्ट रोस्तोव के सिद्धान्त भ्रामक हैं? नहीं। कारण हैं निर्यात संवर्द्धन के स्थान पर आयात-प्रतिस्थापन की नीति, जड़ता को प्रश्रय देते श्रम सम्बन्धी विनियम, राज्य द्वारा उद्यमी की भूमिका ग्रहण करने के कारण विशाल, परन्तु अक्षम एकाधिकारवादी सार्वजनिक उपक्रमों का सृजन, विदेशी पूँजी के प्रति अस्पृश्यता की भावना तथा निजी उद्यमों पर कठोर नियन्त्रण। कांग्रेस नेतृत्व द्वारा मार्क्सवादियों के प्रभाव में आकर स्वतन्त्रतापूर्व मुस्लिम तुष्टीकरण तथा स्वातंत्र्योत्तर काल में समाजवादी आर्थिक नीतियों के संवरण के कारण विभाजन तथा भारत की अकिंचन दशा की निरंतरता के रूप में दो राष्ट्रीय त्रासदियाँ उपलब्ध हुई हैं।

ध्यातव्य है कि मुस्लिम तुष्टीकरण की नीति अवरित जारी है। जनमानस में यह तथ्य गहरे बैठ रहा है कि भारतीय राजनीति का प्रभावी समीकरण हिन्दू विरोधी है। हिन्दू आस्थाओं के ऊपर न्यायालय हैं, इस्लामी आस्थाएँ निरपेक्ष हैं। सन् 1985 ई. में उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश वाइ. वी. चन्द्रचूड़ की अध्यक्षता में एक संविधान पीठ ने 'मुहम्मद अहमद खान बनाम शाह बानो बेगम' वाद में तकालशुदा मुस्लिम वृद्धा को गुजारा राशि प्राप्त करने का अधिकार देते हुए समान नागरिक संहिता, जो भारतीय संविधान-समर्थित है (अनुच्छेद 44), की आवश्यकता पर बल

दिया था। राजीव गाँधी ने 'शरीयत के विरुद्ध' इस निर्णय को संसद द्वारा निरस्त करवा दिया। सन् 1995 ई. में 'सरला मुद्गल बनाम भारत प्रशासन' वाद में भी उच्चतम न्यायालय ने समान नागरिक संहिता लागू करने की बात कही थी। सन् 2003 ई. में भी इसे पुनः अभिसमर्थित किया गया। परन्तु हुआ ढाक के तीन पात। सर्वाधिक भ्रामक स्थिति शिक्षा-व्यवस्था की बनी हुई है। त्याग व सन्यास का प्रतीक 'भगवा' वर्ण अपशब्द बन गया है। मानव संसाधन विकास मन्त्री अर्जुन सिंह द्वारा एन. सी. इ. आर. टी. की नव-लिखित पुस्तकों के संशोधन की आवश्यकता की बात सुनते ही नागालैण्ड के शिक्षा मन्त्री चुबा चांग यह कहने का दुःसाहस कर बैठे कि 'हमें सुनिश्चित करना है कि विद्यालयों में गाय तथा सुअर का प्रवेश वर्जित हो (15 जून, 2004 'द सेन्टिनल')।'

तथ्य यह है कि सेक्यूलरों के शासन काल में इतिहास-लेखन के अवैज्ञानिक प्रतिमान स्वीकृत हुए। बोर्ड ऑफ सेकेन्डरी एडुकेशन के परिपत्र में आदेश दिया गया था कि 'मुस्लिम शासन की निन्दा नहीं करनी है। मुस्लिम आक्रमणकारियों तथा शासकों द्वारा मन्दिरों के विध्वंस का उल्लेख नहीं किया जाना है (द लेगॅसि ऑफ मुस्लिम रूल इन इंडिया, पृ. 301, के.एस. लाल)।

जबकि स्वयं आततायी तैमूर लंग ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि "हिन्दूस्थान आने के...प्रधान उद्देश्य दो थे। प्रथमतः इस्लाम के शत्रु इन काफिरों से युद्ध करना, और इस धर्मयुद्ध ('जिहाद') के फलस्वरूप आगामी जीवन में लाभ प्राप्त करना। अन्य उद्देश्य था...काफिरों के धन तथा मूल्यवान वस्तुओं की लूट द्वारा इस्लामी सेना को आर्थिक लाभ पहुँचाना, क्योंकि जिहाद में लूट उतना ही विधि-विहित है जितना माँ का दूध।" जबकि कट्टर उलेमा से भिन्न सूफियों को उदारचेता होने के कारण प्रायः प्रशंसनीय माना जाता है, सूफी सिलसिलाओं में सर्वाधिक उदार चिस्तियों के स्वनामधन्य शेख अब्दुल कदुस गंगोह ने भी सिकन्दर लोदी, बाबर तथा हुमायूँ को पत्र लिखा कि शरीयत के पालन के साथ-साथ हिन्दुओं से दृढ़तापूर्वक जजिया उद्गृहीत की जाए, तथा उनपर यथासम्भव सभी अपात्रताएँ लाद दी जाए (मक्तवत-ए-कुहूसिया, पृ. 44-46, 335-337, 338)।

'दूसरी परम्परा की खोज' नामक पुस्तिका में नामवर सिंह द्वारा पुष्टिमार्ग के संस्थापक धर्माचार्य के 'स्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु...' नामक प्रायः उद्धृत तत्कालीन साक्ष्य को, जिसमें गहरी पीड़ा के साथ रागात्मक अभिव्यक्ति है कि स्लेच्छों से आक्रान्त भारतभूमि में तीर्थों के नष्ट होने तथा वैदिक धर्म-ज्ञान के लुप्त होने की स्थिति में कृष्णाश्रय ही श्रेय-मार्ग है, प्रस्तुत करते हुए उसके निहितार्थों पर ही प्रश्नचिह्न लगाने का कुत्सित प्रयास द्रष्टव्य है। उनकी यह स्थापना कि मुस्लिम आक्रान्ताओं का उल्लेख नहीं किया गया है, हास्यास्पद है। वे अज्ञानी हैं, अथवा कुतर्की। द्वितीय सहस्राब्दी ई. के पूर्वार्द्ध में आक्रमणकारियों के रूप में लगभग 1000 वर्ष पहले आए

शक, कुषाण, पहलवादि को कदापि परिगणित नहीं किया जा सकता है। परन्तु नामवर अकेले नहीं। विपिन चन्द्र ने तो साम्प्रदायिकता को आधुनिक काल की प्रक्रिया स्वीकार किया हैमध्यकाल में सम्प्रदायवाद के तत्व ढूँढना उन्हें आधुनिक इतिहास का भूत पर प्रक्षेपण प्रतीत होता है। (द्रष्टव्य, इंडियाज स्ट्रगल फॉर इंडिपेन्डेंस, पृ. 401)। तत्कालीन साक्ष्य सर्वथा विपरीत युगीन दशा का संकेत देते हैं। शम्स-ए-शिराज अफीफ ने लिखा है कि एक ब्राह्मण को 'अपने घर में सार्वजनिक रूप से' हिन्दू-धर्मानुकूल पूजा-अर्चना करने के अपराध में फिरोज शाह तुगलक (1351 ई.-86 ई.) द्वारा राजदरबार में जीवित ही जला दिया गया। (द्रष्टव्य, तारीख-ए-फिरोजशाही, पृ. 388)। उसका परवर्ती सिकन्दर लोदी (1489 ई.-1517 ई.) ने एक हिन्दू को केवल इस अपराध के कारण मृत्युदण्ड दे दिया कि उसके अनुसार 'इस्लाम सद्धर्म है, परन्तु उसका अपना धर्म भी उतना ही पावन है, (द्र. तबकात-ए-अकबरी, पृष्ठ 323, निजामुद्दीन अहमद)।

जामिया मिल्लिया इस्लामिया में इतिहास की प्राध्यापिका नारायणी गुप्ता ने बच्चों में इतिहास अध्ययन को रुचिकर बनाने की आवश्यकता पर बल देते हुए लिखा कि वहाँ 'लखनऊ समझौता' प्रभृत 'गौण बातों' का उल्लेख नहीं होना चाहिए। उन्हें 'साम्राज्य निर्माता' राजेन्द्र चोल (1014 ई. 1044 ई.) तथा 'आक्रान्ता' महमूद गजनवी का विभेद भी कुछ समुचित नहीं लगता है (हिन्दुस्थान टाइम्स, 30 मई, 2004), उनकी इन्हीं विचारों के लिए अगर इन्हें कांग्रेस प्रशासित दिल्ली की एस.सी. ई. आर. टी. की पाठ्यपुस्तक निर्मात्री समिति, 2003-04 का सदस्य मनोनीत किया गया तो क्या आश्चर्य! एन. डी. ए. की लोकसभा चुनाव में पराजय के पश्चात दिल्ली प्रशासन के विद्यालयों में 'भगवाकृत' एन. सी. ई. आर. टी. की पुस्तकों के स्थान पर एस. सी. आर. टी. की पुस्तकों के प्रतिस्थापन का निर्णय लिया गया। अदूरदर्शी शासकवर्गों द्वारा नकारवाद (Negationism) को समर्थन मिलता रहा है। नेहरू महमूद गजनवी को भारतीय स्थापत्य का प्रशंसक के रूप में चित्रित करते हैं। जबकि महमूद का दरबारी इतिहासकार उल्बी लिखता है कि उसने धार्मिक नगर मथुरा के पावन-स्थापत्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करने के उपरान्त उन्हें नष्ट करवा दिया। धार्मिक विद्वेष तथा आर्थिक लाभ से परिचालित स्पेनी आततायियों ने भी तो सन् 1521 ई. में एजटेक जनों के महान् जुड़वाँ नगरों कोजिनके स्थापत्य की वे प्रशंसक थेपूर्णतया विनष्ट कर दिया था (द्रष्टव्य, स्टोलॅन कान्टिनेन्ट्स, पृ. 47, रोनाल्ड राइट)।

भारत भूमि पर 17 आक्रमणों में महमूद ने मन्दिरों का विनाश कर प्रभूत धनराशि प्राप्त की। स्थाणुवीश्वर, मथुरा तथा सोमनाथ प्रभृत धार्मिक नगरों को नष्ट करके उसने परम्परा का पालन ही किया था। मुहम्मद के जीवन-काल में ही अरबों को धर्मान्तरित किया जा चुका था। वहाँ बृहद् स्तर पर देवालयों का विध्वंस, देवमूर्तियों का अपवित्रीकरण व भंजन तथा स्वधर्म त्यागने में शीघ्रता न दिखानेवालों का समूल

नाश हुआ था। अल्-लात, अल्-मनात तथा अल-उज्जा प्रभृत अरब देववृन्द के समादृत सदस्यों के मन्दिरों तथा मूर्तियों को नष्ट करने के लिए, 'तारीख-ए-तबारी' के अनुसार, चतुर्दिक सेनाएँ भेजी गई थीं (द्रष्टव्य हिन्दू टेम्पल्स : डॉट हैपेन्ड टू देम, पृ. 30-31, सीताराम गोयल, अरुण शौरी)।

एडवर्ड गिबबन ने लिखा है कि "(खलीफा) उमर (634 ई.-644 ई.) के शासन के दश वर्षों में मुहम्मद के धर्म के परिपालनार्थ मुसलमानों ने 36,000 नगरों अथवा दुर्गों को अधीनता स्वीकारने के लिए बाह्य कर दिया, 4,000 चर्चों अथवा मन्दिरों को नष्ट कर दिया, और 1,400 मस्जिदों का निर्माण कराया गया।" (द्र. डिक्लाइन एण्ड द फॉल ऑफ द रोमन इम्पाइअर, भाग-2, पृ. 713)। मध्य एशिया, इरान, मिस्र प्रभृत अन्यान्य स्थानों के विपरीत भारत में इस्लामी शासन का इतिहास सर्वाधिक रक्तंजित रहा है क्योंकि एक सांस्कृतिक समुदाय के रूप में हिन्दुओं को कभी नष्ट नहीं किया जा सका। स्वतन्त्रता प्रिय हिन्दू जाति वनों का आश्रय लेकर अनवरत युद्ध करती रही। बलबन द्वारा जंगलों का विनाश किया जाना तथा इब्न बतूता व' बाबर की आत्मकथा इसे सत्यापित करते हैं। तैमूर ने भी अपनी 'मलफूजत' (आत्मकथा) में राजाओं, भूस्वामियों, गहरी नदियों तथा हाथियों के अतिरिक्त गहन वनों को भारतीय सुरक्षा पंक्ति के रूप में परिगणित किया है। सम्प्रति, राजनीति में 'दलित और अल्पसंख्यक' के युग की बात प्रायः की जाती है इस तथ्य से सर्वथा अबोध होकर कि भारतीय जनसंख्या के लगभग 50% भाग को समाहित किए अनुसूचित जाति/जनजाति/दलितों के सृजन में इस्लामी साम्राज्यवाद ने ही महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। तुर्क-मुगल आक्रमणों तथा उनकी सुविचारित प्रशासनिक नीतियों ने कृषकों को वनों में शरण लेने के लिए बाध्य कर दिया था। पराजित राजाओं तथा आर्तकित भूस्वामियों ने भी वनों अथवा दूरस्थ दुर्गों का आश्रय लेकर प्रतिकार की प्रक्रिया जारी रखी, और इस प्रक्रिया में जनजातियों (tribes) के रूप में परिवर्तित हो गए (द लेगेंसि ऑफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया, पृ. 272, के. एस. लाल)। परिहार, लोध तथा परमार आदि क्षत्रिय समुदाय के कई कुल तथाकथित निम्न जातियों में परिगणित किए जाते हैं। द. भारत में 'राजपूत' तथाकथित निम्न वर्गों में स्वीकृत हो चुके हैं। छोटे व्यवसायी तथा कृषि-कार्य में लगे हुए सतनामियों को, जिन्हें औरंगजेब की निरंकुश नीतियों के फलस्वरूप दिल्ली के निकट नरनौल से पलायन कर मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़, बिहार, महाराष्ट्र तथा उत्तर प्रदेश के विस्तृत क्षेत्र में आश्रय लेने के लिए बाध्य होना पड़ा, सम्प्रति 'हरिजन' के रूप में स्वीकृति मिली।

प्रतीच्य संस्कृति की भाँति दशवीं-ग्यारहवीं शताब्दि में हिन्दू संस्कृति चरमोत्कर्ष प्राप्त कर मध्याह्न के सूर्य की भाँति अवनयन की ओर अग्रसर थी। अलबरूनी ने लिखा है कि भारतीय स्वीकार करते थे कि उनके समान कोई राष्ट्र नहीं, उनके देश प्रभृत कोई देश नहीं, उनके शासक प्रभृत कोई राजा नहीं तथा उनके विज्ञान प्रभृत

कोई ज्ञान नहीं। मिन्हाज-उस्-सिराज, इब्न-बतूता, अब्दुर रज्जाक, अमीर खुसरो तथा अफीफ ने भारत के हिन्दू-शासित प्रदेशों में सामान्य जनो के धन-धान्य पूर्ण होने का उल्लेख किया है। बरनी ने अलाउद्दीन खिलजी की उन प्रशासनिक नीतियों का बृहद् विवेचन किया है जिनके फलस्वरूप कभी समृद्ध राष्ट्र अकिंचन जनो के समूह में परिवर्तित हो गया (द्र. तारीख-ए-फिरोजशाही)। भू-कर सकल उत्पाद का 50% कर दिया गया। आवास-कर, चारागाह-कर तथा दुग्ध-कर भी उद्गृहीत किया जाने लगा। जजिया तो लिया ही जा रहा था। 4,70,000 की विशाल सेना की दैनंदिन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निरंकुश सुल्तान ने कृषकों को शेष बचे उत्पादों को यादृच्छिक मूल्य पर बेचने के लिए बाध्य कर दिया। बरनी प्रसन्नतापूर्वक लिखता है कि अलाउद्दीन की आर्थिक नीतियों के कारण प्रतिष्ठित परिवारों की हिन्दू स्त्रियाँ तथा बच्चे मुसलमानों के द्वार पर भिक्षा-पात्र लेकर उपस्थित होने के लिए बाध्य हो गए (तारीख-ए-फिरोजशाही पृ. 291, 297-98)। इसामी भी हिन्दुओं की दैन्य-स्थिति का उल्लेख करता है (फतुह-उस्-सलातीन, पृ. 569-70)। तत्पश्चात् घियासुद्दीन तुगलक ने भी अलाउद्दीन की नीतियों का पालन किया। उसकी मान्यता थी कि 'हिन्दुओं (कृषकों) के पास उतना ही शेष बचना चाहिए कि धन के प्रभाव से वे उद्धत न हो जाएँ, दूसरी ओर दुःखाभिभूत होकर पलायन के लिए भी वे बाध्य न हों (द्रष्टव्य, तारीख-ए-फिरोजशाही, पृ. 430, बरनी)। मुहम्मद-बिन-तुगलक की आर्थिक नीतियों के फलस्वरूप गंगा-यमुना क्षेत्र के कृषक जीवन-निर्वाह की निम्नतम आवश्यकता से भी विरहित कर दिए जाने के कारण पलायन करने के लिए बाध्य हो गए, जिनका जंगली जानवरों की भाँति आखेट किया गया (द्र. तारीख-ए-फिरोजशाही पृ. 479-80, बरनी; ए हिस्ट्री ऑफ करौना तुर्कस इन इण्डिया, पृष्ठ 67-74, ईश्वरी प्रसाद)। अफीफ लिखता है कि एक गाय को छोड़कर शेष सभी कुछ रैयतों से ले लिया जाता था (तारीख-ए-फिरोजशाही, पृ. 289-90)। बाबर ने भारतीयों को प्रायः 'लंगोटा' पहने तथा 'खिचड़ी' खाते ही चित्रित किया है। अकबर 'महान्' के शासनकाल में कश्मीर में वास्तविक राजकीय करोद्ग्रहण सकल उत्पाद का 2/3 भाग था (डब्लू. एच. मोरलैण्ड, फ्रॉम अकबर टू औरंगजेब, पृ. 253-55)। मनुची लिखता है कि शाहजहाँ के शासनकाल में कर चुकाने के लिए कृषक अपने बच्चों तथा स्त्रियों को बेचने के लिए बाध्य हो गए (स्तोरिया दो मोगोर, पृ. 451)। राजकीय कर चुकाने में असमर्थ कृषकों तथा उनके परिजनों को दास बनाने की नीति का उल्लेख मनरीक (ट्रैवल्स ऑफ फ्रे सेबस्तियन मनरीक, पृष्ठ 272) ने भी किया है। औरंगजेब की, जिसकी हिन्दुत्व के प्रति विद्वेषपूर्ण नीति को स्तालिनवादी इतिहासकार थापर 'शत्रुतापूर्ण किंवदन्ती' मात्र स्वीकार करती हैं, राजाज्ञा थी कि आगामी फसल के लिए आवश्यक बीज तथा उसकी कटाई तक जीवन-धारण के लिए आवश्यक अन्न के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण उत्पाद भू-कर के रूप में कृषकों से ले लिया जाए (हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम मूवमेंट इन इण्डिया, भाग-1, पृ. 121, तारा

चंद)। निकितिन, बार्बोसा, नूनिज, हाउकिंस, सर टॉमस रो तथा टोरी प्रभूत विदेशी यात्रियों ने एक प्रत्यक्षदर्शी की भूमिका में सामान्य भारतीयों की असह्य गरीबी का उल्लेख किया है। सालबैंक ने मुगलों के समय आगरा तथा लाहौर के बीच रहनेवालों की अकिंचन दशा का उल्लेख किया है कि गरीब प्रायः नग्न ही रहते हैं (इण्डिया एट द डेथ ऑफ अकबर, मोरलैण्ड)।

सन् 1632 ई. में आगरा से पटना की यात्रा करते पीटर मुण्डी ने मात्र चार दिनों में 200 मीनारों में 7000 कपालों को जड़े देखाजब चार माह पश्चात् वह लौट रहा था तब 2000-2400 कपालों से जटिल 60 अन्य मीनार बनाए जा चुके थे, परन्तु निर्माणकार्य अबाध जारी था (ट्रेवल्स, पृ. 90,185)। बलबन (1266-86) ने कम्पिल तथा पटियाली में छः माह तक नृशंसतापूर्वक हत्याएँ कराई थी, लूट के फलस्वरूप दिल्ली में दास अत्यन्त सस्ते हो गए थे (द्र. बरनी, तारीख-ए-फिरोजशाही, पृ. 105)। बरनी के अनुसार बुन्देलखण्ड के कटेहर में उसके सभी पुरुषों की हत्या के आदेश के पालन के फलस्वरूप वातावरण में व्याप्त प्रदूषण के कारण महामारी फैल गई (द्र. तारीख-ए-फिरोजशाही, पृ. 106-110)। सामान्य जनों को दासत्व की बेड़ियों में जकड़कर धर्मपरिवर्तन के लिए बाध्य करना परम्परा बन गई थी। सन् 1001-02 ई. में महमूद पेशावर के निकट वैहिन्द पर आक्रमण करके 5,00,000 स्त्री, पुरुष तथा बालकों को दास बनाकर ले गया (उत्बी, तारीख-ए-यामिनी, पृ. 26)। उत्बी पुनः लिखता है कि स्थाणुवीश्वर (थनेसर) पर आक्रमण करके प्रभूत मात्रा में धन प्राप्त करने के अतिरिक्त महमूद 2,00,000 स्त्रियों व पुरुषों को दास के रूप में गजनी ले गया (तारीख-ए-यामिनी, पृ. 39)। बरन, मथुरा तथा कन्नौज पर आक्रमणों (1018-20 ई.) के पश्चात् भी बृहत् स्तर पर दास बनाए गए। उनकी संख्या हत्प्रभ करनेवाली, 7,50,000 है। (ग्रोथ ऑफ मुस्लिम पॉप्युलेशन इन मीड्यवेल इण्डिया, पृ. 211-13, के. एस. लाल)। हिन्दू संस्कृति का एक प्रमुख केन्द्र वाराणसी भी मुस्लिम आक्रमणों से नहीं बच पाई। मुहम्मद गोरी ने वहाँ सभी पुरुषों का वध करा दिया था (कामिल-उत्-तवारीख, पृ 250)। काफिरों को दास बनाने के कारण मुहम्मद बिन-तुगलक की ख्याति इस्लामी जगत् में दूर-दूर तक व्याप्त हो चुकी थी, तो उसका उत्तराधिकारी फिरोज 1,80,000 दासों का स्वामी था। यहाँ तक कि 1761 ई. में भी पानीपत के तृतीय युद्ध में मराठों की पराजय के पश्चात् 22 हजार स्त्रियाँ बंदी बना ली गई थीं।

स्पष्ट है कि वामपंथी 'श्रेष्ठ इतिहासकारों' की अन्धकारमय मध्ययुग से सम्बन्धित पुस्तकों में भारतीय जनजीवन के बिम्ब व चित्र अप्राप्य हैं वे शासक वर्गों के विलास, राजनीतिक दुरभिसंधियों के चित्रण और तथाकथित 'सम्पिश्र संस्कृति' के दुर्लभ तत्वों के परिगणन-परिकल्पन तक सीमित रही हैं। वहाँ अकिंचन तुलसी के 'कवितावली' के हृदय विदारक चित्रों के लिए कोई स्थान नहीं। वहाँ गुरु नानक द्वारा उल्लिखित बर्बर बाबर द्वारा किए गए भारतीय राष्ट्र के अकथनीय अपमान का कोई

संकेत भी नहीं। वहाँ समर्थगुरु रामदास की इस्लामी राजनीतिक व्यवस्था के वास्तविक स्वरूप के परिप्रेक्ष्य में भारतीयों को सचेत रहने की चिन्ता का कोई उद्धरण भी उपलब्ध नहीं होता है।

इस मार्क्सवादी अवैज्ञानिक इतिहास दृष्टि को वैश्विक परिप्रेक्ष्य में स्पष्टतः समझा जा सकता है। विपुल साक्ष्यों के विपरीत, मार्क्सवादी विचारक यहूदी विरोध को श्रमिक वर्ग को विभाजित करने के लिए पूँजीवादियों की सुविचारित रणनीति के रूप में व्याख्यायित करते हैं। अन्य अनेक कारणों के अतिरिक्त धर्मान्तरण के लिए प्रतिस्पर्द्धा के फलस्वरूप यहूदियों तथा ईसाइयों में विद्वेष उभरा थाईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में। सबसे अन्त में लिखा जानेवाला सेण्ट जॉन का सुसमाचार (The Gospel According to Saint John) यहूदियों के प्रति सर्वाधिक विद्वेषपूर्ण है। ग्रीगोरी नामक ईसाई धर्मप्रचारक ने यहूदियों को 'प्रभु के हत्यारे' तथा 'शैतान के सहायत्री' कहा था, जबकि सेण्ट जॉन क्रिसोस्तोम यहूदी, पूजा-गृह, सिनेगॉग को 'वेश्यालय' तथा 'हिंस्र जन्तुओं का मांद' तक कह गया। यहूदी-विरोध की बाइजेन्टाइन परम्परा का यह प्रयाण-बिन्दु है (हिस्ट्री ऑफ एण्टी-सेमिटिज्म, पृ. 24-25, लियॉन पोलिउकोव)। हाँ नवम्बर, 27,1095 ई. को पोप अँरबन द्वितीय द्वारा धर्मयुद्ध (Crusade) के आह्वान के पश्चात् यहूदी-विरोधवाद में अधिकाधिक जनों की भागीदारी भी सुनिश्चित हो गईधर्मयुद्ध के लिए पूर्व की ओर प्रयाण करते योद्धाओं ने अपने बीच के इन यहूदियों को पहले नष्ट करना उचित समझा। राइन नदी के तटवर्ती प्रदेश, मेन्ज, वोर्म्स, कोलोन, योर्क, लन्दन तथा प्रॉग में यहूदियों का जनसंहार हुआ। सम्राट हेनरी चतुर्थ ने बलात् धर्मान्तरित यहूदियों को पुनः स्वधर्म में वापस जाने की आज्ञा दे दी। परन्तु पोप क्लीमेंट तृतीय ने 'बलात् धर्मान्तरण' (Forced Baptism) की वैधानिकता को स्वीकार कर लियायह मौलिक धर्म-सिद्धान्त आज तक अपरिवर्तित है (द हिस्ट्री ऑफ एण्टी सेमिटिज्म, पृ. 46-47, लियॉन पोलिउकोव)। यहूदियों को 1290 ई. में ही इंग्लैण्ड से निर्वासित कर दिया गया था, जबकि राजाज्ञा द्वारा 1394 ई. में उन्हें फ्रांस से बलात् निर्वासित कर दिया गया। रूस में यहूदियों के आगमन पर प्रतिबन्ध था। इवान द टैरिबेल ही नहीं पीटर द ग्रेट भी उनके प्रति असहिष्णु था। जर्मनी में यहूदियों के प्रति तीव्र घृणा तथा उसकी लोमहर्षक परिणति अकथनीय है। एरासॅम्स ने कहा था कि, "अच्छा ईसाई बनने की पूर्वापेक्षा अगर यहूदी-विद्वेष है तो हम सभी अच्छे ईसाई हैं।" पन्द्रहवीं शताब्दी में सेण्ट विन्सेन्ट फेरॅर ने एक यहूदी पूजा-स्थल को चर्च ('चर्च ऑफ इम्मेक्यूलिट वर्जिन') में परिवर्तित कर दिया। सामाजिक विभेद की प्रक्रिया मध्यकाल में चरम परिणति पर पहुँच चुकी थी। अल्बी की सभा की भाँति 14वीं 15वीं शताब्दी की अन्य अनेक सभाओं अथवा धर्म संसदों में इसे दुहराया गया कि एक यहूदी द्वारा स्वास्थ्य-लाभ से श्रेयस्कर है मृत्यु का सहर्ष वरण (द हिस्ट्री ऑफ एण्टी सेमिटिज्म, पृ. 149)। उन्हें 'काली प्लेग' (1347-50),

जिसमें योरोप की एक-तिहाई से अधिक जनसंख्या नष्ट हो गई थी, के लिए उत्तरदायी ठहराया गया। मध्यकालीन योरोपीय कला एवं साहित्य में यहूदियों का रक्तपिपासु के रूप में बहुत चित्रण हुआ है। चौसर ('द कैनटंबेरी टेल्स') तथा शेक्सपियर ('मर्चे ऑफ वेनिस') भी युगीन पूर्वाग्रह से मुक्त नहीं थे। धर्मसुधार के प्रवर्तक मार्टिन लूथर ने भी 'अगेन्स्ट द जूस एण्ड देअर लाइस' लिखा था। जैसा कि भारत में हो रहा था, 'स्वधर्म निधनं श्रेयः' के आदर्श से परिचालित यहूदियों द्वारा सामूहिक आत्मदाह (भारत में 'जौहर') अथवा आत्महत्या की घटनाएँ भी प्रकाश में आती हैं। 1348 ई. में वे "...नृत्य तथा गायन करते हुए, मानो विवाह के लिए प्रस्थान करते बाराती हों, आगे बढ़े : अपने बच्चों की सुरक्षा के लिए न तो पिता और न माँ ने ही धर्मान्तरण स्वीकार किया...और जैसे ही प्रज्वलित अग्नि दिखाई दी, बच्चों सहित स्त्रियाँ उसमें सहर्ष कूद गईं" (द हिस्ट्री ऑफ एण्टी सेमिटिज्म, पृ. 162, लियॉन पोलिज्कोव)। इस प्रकार मध्यकाल के अंत तक यहूदी स्वरक्षार्थ घेटू (Ghetto) में देश-काल निरपेक्ष जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य हो गए। क्या आश्चर्य कि विश्वप्रसिद्ध इतिहासकार टॉयनबी ने यहूदी सभ्यता को 'जीवाश्म में परिवर्तित प्राच्य सभ्यता' कहा था।

स्पष्ट है कि इतिहास-लेखन की विसंगतियाँ भारत तक ही सीमित नहीं हैं। भारत की ही भाँति अमेरिकी महाद्वीपों का इतिहास भी प्रतीच्याभिमुख (West/Europe centric) रहा है। स्पेनी शब्द 'इण्डियो' (indio) प्रजातीय परिप्रेक्ष्य में अपशब्द बन गया। सन् 1927 ई. में ही शिकागो के मेयर को प्रेषित अभ्यर्थना में 'अमेरिन्डियन' लोगों ने कहा था कि "हमें ज्ञात है कि (विद्यालयों की इतिहास-पुस्तकें) हमारे जीवन के प्रति अन्यायपूर्ण हैं।...श्वेतों के विजय को संग्राम अभिहित किया जाता है जबकि युद्ध में हमारी विजय जनसंहार...अपनी सम्पत्ति की रक्षा के लिए उद्धृत श्वेत राष्ट्रभक्त हैं जबकि समान उद्देश्यों से परिचालित हमारे लोग हत्यारे...।" रोनाल्ड राइट से एक स्थानीय प्रमुख ने कहा कि "आप किसी बसे हुए स्थान की खोज नहीं कर सकते। अन्यथा मैं भी अटलांटिक पार कर इंग्लैण्ड को 'खोज' सकता हूँ।" इस विकृत इतिहास दृष्टि के फलस्वरूप मानवता के प्रति किए गए जघन्य अपराधों को उसकी जाज्वल्यमान उपलब्धियों के रूप में निरूपित करने पर भी खण्डनात्मक प्रतिक्रिया नहीं हुई। पेरू के प्रख्यात लेखक तथा राष्ट्रपति-पद के प्रत्याशी मारियो वर्गास लोस ने डार्विनवादी पूंजीवाद के नाम पर, तो ग्वाटेमाला के इतिहासकार सेवेरो मार्टिनेज पेलाएज ने समाजवाद के नाम पर स्थानीय संस्कृति के विनाश को उचित ठहराया है (स्टोलन कॉन्टिनेन्ट्स, पृष्ठ 6-7)।

ध्यातव्य है कि द्वितीय सहस्राब्दी ई. के मध्य में योरोपीय क्रिसेनडॉम के चतुर्दिक विस्तार के फलस्वरूप कितनी ही स्थानीय संस्कृतियाँ नष्ट हो गईं। वी.एस. नॉयपॉल

ने अपनी पुस्तक 'द लॉस ऑफ अल दोरादो' के प्राक्कथन में लिखा है कि "... कोलंबंबेस के आगमन के चार सौ से अधिक वर्षों के उपरान्त विश्व के उस भाग में, जिसे उसने 'इंडीज' कहा था, इंडियन (भारतीय) बस गए थे, जबकि वे जन जिन्हें उसने 'इंडियन' कहा था, समूल नष्ट हो गए। उनका कोई स्मारक नहीं, और न ही कोई उन्हें याद करता है। चागुआन मात्र स्थानवाचक शब्द रह गया है, अधिकतर भारतीयों ने उसे 'चौहान' एक हिन्दू-जाति वाचक शब्दपुकारना प्रारम्भ कर दिया है।" सन् 1625 ई. में स्पेन के शासक ने चगुआन जनो की स्वतन्त्र-प्रवृत्ति के लिए उन्हें दण्डित करने की आवश्यकता व्यक्त की थी। नॉयपॉल पुनः लिखते हैं कि राजाज्ञा के परिपालनार्थ 'क्या किया गया पता नहीं, परन्तु शीघ्र ही चागुआन नामक स्थान पर कभी चगुआन नामक जाति निवास करती थी, लोग भूल गए।' कोलंबंबेस के आगमन के 150 वर्षों से कम समय में कैरीबियन द्वीप-समूह की सम्पूर्ण स्थानीय जनसंख्या नष्ट हो गइलगभग 80 लाख लोग। जबकि अफ्रीकी महाद्वीप में औपनिवेशिक काल में विजयाभिधानों तथा दास-व्यापार एवं उससे जुड़ी अन्य गतिविधियों के फलस्वरूप 5 करोड़ जन हताहत हुए थे, उधर तस्मानिया की सम्पूर्ण स्थानीय जनसंख्या एक ही अभियान में नष्ट हो गई थी। औपनिवेशिक काल में विभिन्न संस्कृतियों के महाविनाश अथवा अमानवीय अत्याचारों के लिए सम्पूर्ण ब्रिटिश, फ्रेंच, डच, स्पेनी तथा पुर्तगाली राष्ट्र, न केवल तत्कालीन शासक वर्ग, उत्तरदायी हैंकतिपय व्यक्तियों यथा पोप अलेक्जेंडर (1493 ई. में 'न्यू वर्ल्ड' को पुर्तगाल तथा स्पेन को प्रदान कर दिया), कोर्टेज (एजटेक), अलवराडो (माया), पिजारो (इंका), सोतो (चेरोकी) और क्लाइब, हेस्टिंग्स, डलहौजी व अलबुकर्क (भारत) ने प्रत्यक्ष भाग लिया, दूसरों ने उनकी अत्यावश्यक सहायता की, जबकि अन्य लोगों ने अनय-अत्याचार को मूक समर्थन प्रदान किया था।

एशिया, अफ्रीका, अमेरिका (उत्तरी तथा दक्षिणी) तथा आस्ट्रेलिया के विस्तृत प्रदेशों में विधर्मियों के प्रति तीव्र घृणा तथा बलात् धनोद्ग्रहण की लालसा के फलस्वरूप सेमिटिक धर्मावलम्बियों द्वारा की गई अमानवीय कृत्यों के परिप्रेक्ष्य में धार्मिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालना रुचिकर होगा। हिन्दुत्व की वैदिक काल से सतत प्रवाहमान परम्परा में ब्रह्म को सृष्टि का निमित्त ही नहीं, उपादान भी स्वीकार किया गया है। 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।' (ईशा. उपनिषद्), 'आत्मत एवेदं सर्वम्।' (छा. उ. 50), प्रभूत गूढ विचार-सूत्र वहाँ उपलब्ध हैं। ब्रह्म 'विश्वकृत्' (श्वेताश्वतर उ.) ही नहीं 'सर्वं खल्विदं' (छान्दोग्य उ.) भी है। 'ब्रह्मसूत्र' (अथर्ववेद शाखा) में यहाँ तक कहा गया 'ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मैवेमे कितवाः।' अर्थात् ये केवट, दास तथा जुआरी ब्रह्म हैं। यह परम्परा अविच्छिन्न रूप से आधुनिक काल तक लोक को समर्थित-नियंत्रित करती चली आई है। माँ काली के भक्त, मूर्तिपूजक

रामकृष्ण कहा करते थे कि 'यह ब्रह्म ही विभिन्न रूपों में प्रत्यक्ष हो रहा है।' उधर दक्षिण में नारायण गुरु की मान्यता थी कि

तुम हो सृष्टि
सृष्टि की असंख्य जीवों की, तुमने
हे ईश्वर।
तुम हो सृष्टि के साधक भी
सत्य, ज्ञान और आनंद
तुम्ही हो
भूत, वर्तमान और भविष्य
एक शब्द में
तुम सबमें हो, सब तुममें
तुझसे भिन्न न कोई।

आधुनिक युग में वैदिक ज्ञान के महानतम व्याख्याकार श्री अरविंद 'दैवीय जीवन' की अवधारणा चरितार्थ कर रहे थे, प्रायः 'मौन' रमण महर्षि ने गीत गाया :

पंच तत्वों में, सूर्य में, चन्द्र में,
सभी जीवों में,
तेजोमय रूप एक
उन्हीं का देखना,
सभी की समयोचित सेवा
सबके लिए उचित संवेदना
यही है यही सर्वोत्तम
नित नयी शिवोपासना।

उधर सेमिटिक परम्परा सृष्टिकर्ता को उसकी सृष्टि से सर्वथा भिन्न स्वीकार करती है। इस्लामी शरीयत के प्रारम्भिक व' प्रामाणिक चार व्याख्याताओंमलिक इब्न अन्स, अश शफी, अहमद बिन हनबल तथा अबू हनीफा में से आरम्भिक तीन ने मूर्तिपूजकों को इस्लामी राज्य में 'मृत्यु या इस्लाम' का विकल्प ही दिया था। 'संत' हिप्पोलिटस ब्राह्मणों को 'विधर्मी' स्वीकार करता था, जबकि 'संत' ग्रीगोरी ने टिग्रिस नदी पर अवस्थित हिन्दुओं के कई देव-मूर्तियों को स्वयं नष्ट किया था। जबकि 1493 ई. में पोप अलेक्जेंडर षष्ठम् ने 'रिक्वाइजमेंट' के माध्यम से नव-प्रतीच्य (New West) के इंका-प्रभृत विधर्मी राज्यों को स्पेन को 'दान-स्वरूप' दे दिया थाबालकों तथा स्त्रियों को दास बनाए जाने की धमकी पर बलात् धर्मान्तरित करने हेतु, आधुनिक काल में भारत में 'शिकवा' तथा 'जवाब-ए-शिकवा' प्रभृत अनन्यतावादी विचारों से अनुगुम्फित कृतियों के रचनाकार 'राष्ट्रवादी' इकबाल की मान्यता थी कि

'सम्पूर्ण पृथ्वी पर मुसलमानों का स्वामित्व है क्योंकि वह उनके ईश्वर (अल्लाह) की है।' फिर सम्पूर्ण प्रकृतिपृथ्वी के सम्पूर्ण उपादानदैवत्व-विरहित होकर 'चयनित जनों' की भोग्या की भूमिका ग्रहण कर लेती है। तब कवि-हृदय, संवेदनशील बाबर की आत्मकथा में प्राप्य उस कवित्त पर क्यों आश्चर्य हो कि काफिरों के इस मालामाल देश को भई जितना सको लूट लो। फिरदौसी का आश्रयदाता महमूद क्या संग्रहालयों, पुस्तकालयों आदि सांस्कृतिक उपकरणों का निर्माता नहीं था? इतिहास में और पश्चगमन करें तो एक और प्रकरण उल्लेखनीय प्रतीत होता है। ईसा-पूर्व काल के अनेक ग्रीक तथा लैटिन विचारकों ने यहूदियों की एकेश्वरवादी शिक्षा तथा तज्जन्य संकीर्णता की ओर ध्यान दिलाया था। द्वितीय शताब्दी ई.पू. के मिस्री इतिहासकार मनेथो ने लिखा है कि 'ओसिरिस (देवता) को समर्पित हेलियोपोलिस नामक नगर के एक पुजारी ने स्वधर्म त्याग कर मोसेस नाम ग्रहण किया। वही यहूदियों का विधि-निर्माता हुआ।' उसने पवित्र बछड़े की स्वर्णिम प्रतिमा को नष्ट कर दिया था (Ex 32 : 19 : 25)। ध्यातव्य है कि प्राचीन मिस्र के निवासियों में यह विश्वास प्रचलित था कि उनका देवता ओसिरिस प्रारम्भ में वृषभ (नंदी) पर सवार होकर भारत से आए थे। अलेक्सान्द्रिया के लिसिमाकुस, अपामिया के पोसिदोनियस तथा अब्दरा के हेकाटेअंस नामक लेखकों ने मोसेस की साम्प्रदायिक एवं संकीर्ण मनोवृत्ति को प्रश्रय देती शिक्षाओं का उल्लेख किया है। यहूदियों की धर्मपरिवर्तन में संलग्नता तत्कालीन लेखकों, यथा होरास, सेनेका, जुवेनाल द्वारा भर्त्सना-योग्य समझी गई थीं (हिस्ट्री ऑफ एण्टी-सेमिटिज्म, पृ. 9-10, लियॉन पोलिडकोव)।

सम्प्रति मीडिया में यहूदियों को कष्टरपंथी तथा संकुचित दृष्टि युक्त प्रायः उद्धत रूप में चित्रित किया जाता है, जबकि अरबों को निरीह और दया के पात्र के रूप में। परन्तु उनका ऐतिहासिक स्वरूप वैसा नहीं। सन् 712 ई. में भारत के सिन्ध प्रान्त पर अन्ततः विजय प्राप्त करने के उपरान्त 2,00,000 स्त्री, पुरुष तथा बच्चे उनके द्वारा दासत्व ग्रहण करने के लिए बाध्य कर दिए गए थे। 60 करोड़ दिरहाम की विपुल धनराशि उन्होंने लूट के रूप में प्राप्त की थी। इस्लाम के धार्मिक व राजनीतिक नेतृत्वखलीफाको भी 12 करोड़ दिरहाम की धनराशि प्राप्त हुई (अल्-बिलादुरी)। देवल प्रभृत कई नगरों के सभी वयस्क पुरुषों को नृसंशतापूर्वक मार डाला गया। उनका दोष उनका विधर्मी होना था। सिन्ध के शासक दाहिर के वीरगति प्राप्त करने के उपरान्त उनकी पत्नी रानीबाई ने युद्ध का नेतृत्व किया था, परन्तु वे 'जौहर' करने के लिए बाध्य हो गईं। उनकी दो पुत्रियाँ परिमल देवी तथा सूरज देवीबगदाद भेज दी गईं खलीफा के हरम के लिए (अड्वॉन्सड स्टडी इन द हिस्ट्री ऑफ मीड्यवेल इंडिया, भाग-1, पृ. 38, जे. एल. मेहता)। दिल्ली के प्रायः सभी सुल्तान 'नासिर-ए-अमीर उल्-मोम्नीन (स्वधर्मियों के नायक का सहायक) अथवा 'यामिन-उल्-खलीफा' (खलीफा की दक्षिण भुजा) के रूप में भारत-भूमि से कुफ्र के विनाश के लिए दत्तचित्त थे

(अडवॉन्स स्टडी इन द हिस्ट्री ऑफ मीडियवेल इंडिया, भाग- पृ. 294)। भगवान शिव को समर्पित सोमनाथ के विशाल तथा भव्य मन्दिर के अपवित्रीकरण तथा भंजन के उपरान्त महमूद को खलीफा से कई उपाधियाँ तथा सम्मान प्राप्त हुए। हिन्दुओं के द्वितीय महाविनाश (Second Holocaust) के लिए उत्तरदायी मुहम्मद घुरी भी खलीफा द्वारा सम्माननीय स्वीकृत हुआ था। अन्य मुस्लिम शासकों की भाँति दिल्ली के सुल्तान भी खलीफा से वैधानिकता प्राप्त करने के लिए लालायित रहते थे। महाकाल के ज्योतिर्लिंग को अपवित्र करने के अक्षम्य अपराध का दोषी इल्लुतमिश के सिक्कों पर भी खलीफा का नाम उत्कीर्ण था। विन्ध्य के दक्षिण इस्लाम को दृढ़ आधारशिला प्रदान करने के लिए उपनिवेश-स्थापन के लिए उत्तरदायी 'विरुद्धों का अपूर्व सामंजस्य' मुहम्मद-बिन-तुगलक तथा उसका उत्तराधिकारी फिरोज, जिसकी तदनुभूति अथवा राजधर्म मुसलमानों के कल्याण तक ही सीमिति थी (अन्य अनेक स्थानों के अतिरिक्त उत्कल प्रदेश के मन्दिरों को नष्ट करने तथा पूज्य देव-मूर्तियों के अपवित्रीकरण के लिए दोष-सिद्ध है), खलीफा द्वारा सम्मानित हुए थे। यह कैसी इतिहास-दृष्टि है कि गाँधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस ने उसी संस्था के पुनरुज्जीवन के लिए आन्दोलन किया था, जिसकी अन्तिम परिणति मोपला विद्रोह के रूप में देव भूमि केरल में सहस्रों निरीह हिन्दुओं की हत्या अथवा बलात् धर्मान्तरण में हुई थी।

आज भी, मार्क्सवादियों को वैचारिक नेतृत्व प्रदान कर कांग्रेस भारत में बहिरागत प्रभावों तथा मूल्यों के स्थापन में दत्तचित्त हैपाठ्य-पुस्तकों की 'डिटॉक्सिफिकेशन' की प्रारम्भ हो चुकी प्रक्रिया उसी दिशा में बढ़ाया गया महत्वपूर्ण चरण हैबच्चों को अपनी ही श्रेण्य परम्पराओं तथा सांस्कृतिक औदात्य से पूर्णतया अबोध रखने का यह कुत्सित प्रयास हैवह भी स्वतन्त्रता के उपरान्त! उपनिवेशन के युग में जब यहाँ भारतीय रिक्थ तथा अध्यात्म अंधविश्वास की कोटि में परिगणित होकर उपहास योग्य स्वीकृत हो चुके थेशासक वर्ग तथा अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीयों, यथा 'नवबंगाल आन्दोलन' के समर्थकों की दृष्टि में (मद्यपान तथा गोमांस-भक्षण आधुनिकता का लिटमस टेस्ट थे)दूर अमेरिका के सर्वाधिक ऊर्वर मस्तिष्क उन्हीं 'हेय व घृणित' परम्पराओं से सृजनात्मक उत्प्रेरण प्राप्त कर रहे थे। इमर्सन ने 'ट्रैन्स-डेन्टल क्लब : अन्तर्ज्ञान सभा' की स्थापना की थी। जब भारत में उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में प्राच्यवादियों की पूर्ण पराजय के पश्चात् मैकॉले समर्थित भारतीय परम्पराओं से सर्वथा विच्छिन्न पाश्चात्य शिक्षा-व्यवस्था जड़ें जमा रही थी, इमर्सन ने औपनिषदिक उत्प्रेरण के फलस्वरूप 'ब्रह्म' नामक कविता में लिखा

रक्ताभ बधिक ने हत्या की,

अथवा मृतक का स्वयं को हत मानना;

ज्ञात नहीं उन्हें सूक्ष्म गति

आवागमन करता मैं पुनः उपस्थित होता हूँ।

... ..

अविश्वासी मैं, संदेह भी

और ब्राह्मणों द्वारा गेय सूक्त मैं हूँ।

धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में सैन्य-वाहिनियों के मध्य भगवान ने भी तो सहस्रों वर्षों पूर्व कहा था

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।

मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहग्निरहं हुतमा॥गीता 9.16॥

गीता के फ्रेंच अनुवाद से लाभान्वित थॉरो की रचना 'ए वीक ऑन द कॉन्कॉर्ड एण्ड मेरिमेक रिवर्स' पूर्वोक्त ग्रन्थ का सहर्ष गुणानुवाद प्रतीत होता है। भारतीय मनीषा के सर्वाधिक निकट, प्रकृति से पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर चुके 'लीब्स ऑफ ग्रास' तथा 'सांग्स ऑफ माइसेल्फ' के रचयिता वॉल्ट व्हिटमैन (मृत्यु 1892 ई.) को सामान्य भारतीय विद्यार्थी 'कैप्टन' की भूमिका में लिंकन के प्रशस्तिकार के रूप में ही जानता है, जबकि स्वामी विवेकानन्द ने भी उन्हें 'अमेरिकी संन्यासी' की महान् उपाधि से विभूषित किया था (लाइफ ऑफ स्वामी विवेकानन्द, पृ. 292, भाग-2)। भारतीय परम्पराओं तथा इतिहास की विकृत समझ के कारण भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री पं. नेहरू के वामपंथी तथा 'उदारवादी' नेतृत्व में प्रारम्भ से ही बहुआयामी व्यक्तित्वों को कुठित कर बने-बनाए सुविचारित साँचे में प्रस्तुत करने की प्रथा चली आ रही है। स्वयं विवेकानन्द को विपिनचन्द्र प्रणीत एन.सी.ई. आर.टी. के इतिहास में अकिंचन भारतीयों का भावुक प्रवक्ता के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यही कुछ महर्षि अरविन्द के साथ हुआ। वहाँ मात्र क्रान्तिकारी राजनीतिज्ञ के रूप में उनका उल्लेख है, जिनके विषय में वेद-विज्ञ डेविड फ्राउले ने लिखा है कि उनके विचार-सागर में ढेल की तरह अटखेलियाँ किया जा सकता है, ('हाऊ आइ बिकेम अ हिन्दू : माइ डिसकवरी ऑफ वेडिक धर्मा')। विराट् दार्शनिक व' आध्यात्मिक पृष्ठभूमि के विषय में 'प्रगतिवादी' लेखकों में सर्वथा मौन की मुद्रा द्रष्टव्य है।

ध्यातव्य है कि सम्प्रति सनाथ वामपंथियों के लिए मानव मूल्यों की शिक्षा तथा पवित्र आध्यात्मिक जीवन की परिकल्पना सर्वथा त्याज्य हैं। सोल्झेनिस्तिन के शब्दों में वे जैसे राजनीतिक व्यवस्था के पक्षधर हैं, जो भौतिक ही नहीं, आध्यात्मिक दासत्व में भी विश्वास करती है, जहाँ आत्मिक उन्नयन की कल्पना ही नहीं की जा सकती है (फ्रॉम अण्डर द रॉबल, पृ. 24)। ऐसी स्थिति में बदलाव आवश्यक है, जो पूर्वाग्रह-विहीन इतिहास-दृष्टि के बिना संभव नहीं।

पाठकीय प्रतिक्रिया

चिंतन-सृजन के नए अंक के संपादकीय में आपने दो टूक ढंग से बड़ी विचलित करने वाली बातें रखी हैं। 'इंडिया टुडे' के हवाले से बहुत चुनौती भरा सवाल दागा है आपने, कि आजादी के बाद अर्थ और अर्थोपार्जन के विरुद्ध बोलने वाले वाचाल वर्ग की - जो दरअसल सही माने में बुद्धिजीवी थे ही नहीं, सिर्फ बौद्धिक क्षेत्र में सत्ता की राजनीति की घुसपैठ के साधक थेउनकी नाजायज बढ़ती साख के बावजूद, आज ऐसा क्या हो गया कि पूँजी से जुड़े लोग चोटी पर हैं, तथा विचार एवं लेखन से जुड़े लोग हासिए पर भी नहीं? इसका जबाब देने के लिए जिस नैतिक साहस की जरूरत है, वह स्वयं साहित्य-क्षेत्र के बौद्धिकों में दुर्लभ जान पड़ती है। पर अब जब पानी सिर के ऊपर आ गया हैजवाब टाला नहीं जा सकता, यह राहत देने वाली घटना है कि आपकी पत्रिका में छपने वाली सामग्री में इस अत्यावश्यक स्पष्टवादिता और देश और समाज और संस्कृति की सच्ची चिंता से प्रेरित संकेत देखाई देने लगे हैं। जैसे इसी अंक में शल्यजी और दुबेजी के लेख में। शंकर शरण की पुस्तक की समीक्षा युक्तियुक्त है।

'संपादकीय' में आपने 'शत्रु-बोध' खोने की बात की है; साथ ही एक अपराधी विचारधारा के लोगों की शिक्षण तथा शोध-संस्थाओं में बड़े पैमाने पर घुस-पैठ को भी दर्ज किया है। यह भाषा अभी दो दशक पहले तक संभव न थी। सामान्यतः हम लोग ऐसी कठोर भाषा के अभ्यस्त नहीं। परंतु आज क्यों यही भाषा सही और कारगर लग उठी है? क्यों इससे तत्काल यह राहत मिलती है कि चलो, कोई तो है जो वस्तुस्थिति को न केवल यथातथ्य समझ रहा है, बल्कि उसे उसके सही नाम से पुकारना भी जरूरी समझ रहा है। जिनके तथाकथित बोध की मर्यादा स्वयं 'शत्रु-बोध' से ही परिभाषित, निर्मित और संचालित होती रही है, जो स्वयं उनके अपने इतिहास देवता द्वारा पटखनी खा चुकने के बाद भी निर्लज्जतापूर्वक अपनी रणनीतिमूलक अनीतियों से ही चिपटे रहने को अभिशप्त हैं। शायद उनके लिए यही भाषा काम दे सकती है क्योंकि वे और कोई भाषा नहीं जानते। नहीं समझते। या कहें, नहीं समझना चाहते।

हाँ, यहाँ एक बंधु ने मिशेल दानिनो का लेख देखकर जिस तरह की प्रतिक्रिया की (सुखद विस्मय जैसी) उससे लगाहमें हमारी ही चीजों का पता देने और किसी तरह आत्म विस्मृति से उबारने के लिए भी अनेक मिशेल दानिनो की जरूरत पड़ेगी। हमारे अपने बौद्धिकोंयानी सचमुच के, ज्ञान-संवेदनक्षम बौद्धिकों की बात भी तभी सुनी जाएगी जब विदेशी मूल के भारत-भावित लोग हमारे पक्ष या हित की बात

करेंगे। तभी हमें हमारे हित-चिंतकों पर भरोसा होगा और तभी हम उन्हें पढ़ने-गुनने का कष्ट उठाएंगे। अरविंद की प्रासंगिकता हम पर तभी प्रकट होती है जब कोई केन विलसर जैसा मनोवैज्ञानिक उनसे प्रेरित होकर अपना सिस्टम खड़ा कर दे।

सत्यमित्र दुबेजी ने भाक्ति-आन्दोलन का बहुत अच्छा मूल्यांकन किया है - नवजागरण के रूप में उनसे उन्नीसवीं शती वाले पुनर्जागरण का भी ऐसा ही विश्लेषणपरक मूल्यांकन अपेक्षित है। क्यों वह पहले सफलता और उत्तरार्द्ध में विफलता का अहसास उपजाता है?

एक सुझाव: आप लोगों के नाम-पते भी दे दिया करें अन्त में, तो अच्छा रहे। तीनेक पुनर्मुद्रण देने की प्रथा पहले हुआ करती थी।

(प्रो.) रमेश चन्द्र शाह, भोपाल

'चिंतन-सृजन' तथा 'डायलॉग' के जनवरी-मार्च 2004 अंक मिले। अनेक धन्यवाद। इन दोनों अंकों में कुछ लेख अच्छे हैं, किन्तु दोनों में मुझे विशेष उल्लेखनीय आपके संपादकीय लगे, जिनमें आपने हमारी राजनैतिक-सामाजिक काया में व्याप्त रोग के दो लक्षण बहुत ओजस्वी पदावली में दर्शाये हैं। अभी हाल के चुनावों में हमारी राजनीति और मीडिया की विक्षिप्तता और घटियापन जितने बीभत्स रूप में प्रकट हुआ है वह पिछले चुनावों से काफी अधिक है। ये संपादकीय थोड़ी आशा बँधाते हैं कि कुछ युक्त दृष्टि रखने वाले लोग भी हैं।

यशदेव शल्य, जयपुर

... 'चिंतन-सृजन' का वर्ष 1 अंक-3 मिला। इतनी भरी-पूरी पत्रिका के संपादन-प्रकाशन के लिए आप और आपके सहयोगी साधुवाद के अधिकारी हैं। अभी शल्यजी, रमेशचंद्र शाह, प्रो. सत्यमित्र दुबे, शंकर शरण और शत्रुघ्न प्रसाद के लेख पढ़ पाया हूँ। सभी लेख भारत की आत्मा को झकझोर कर जगाने वाले हैं। इतने उच्चस्तरीय लेखों के पठन-पाठन में जो एक कष्ट हुआ उसका संबंध आपके कर्तव्य-पालन से है। पत्रिका में पाठ शोधन की अशुद्धियाँ काफी हैं। संस्कृत के श्लोकों में तो और भी अधिक कठिनाई है। प्रो. दुबे के लेख में पृ. 59 पर उद्धृत 'पक्षपात न मे वीरो परिग्रहः' श्लोक में अशुद्धियाँ हैं। इतनी स्तरीय पत्रिका में ये दोष दूर हों- यह कठिन काम आपको करना है।

यह पत्रिका मैंने हिन्दी के वरिष्ठ आलोचक डॉ. कमल किशोर गोयनका को दिखायी-उन्होंने भी इसे सराहा है। मेरी तथा अपनी सदस्यता राशि वे चेक से भेजेंगे।

आपकी दृष्टि में भारत-भक्ति का पुष्ट बीज विद्यमान है जो हमें एक ही पथ का पथिक बनाने वाला है। योग्य कार्य लिखेंगे। पत्रिका के अगले अंक की प्रतीक्षा रहेगीहमारी पत्रिका 'साहित्य परिक्रमा' में हम इस अंक की समीक्षा छापेंगे। ... पत्रिका की बाइंडिंग भी बदली जानी चाहिए।

डा. कृष्ण चन्द्र गोस्वामी

राष्ट्रीय महामंत्री, अखिल भारतीय साहित्य परिषद्, भरतपुर

‘चिंतन-सृजन’ का अंक-3 पाकर हार्दिक प्रसन्नता हुई। सार्थक दार्शनिक तत्वों से पूर्ण साहित्यिक पत्रिका। ‘चिन्तन और सृजन’ नाम को आद्यन्त सार्थक सिद्ध करती हुई। सभी लेख गंभीर, शोधपरक और उपयोगी। प्रतिष्ठित विद्वानों का आपको भरपूर सहयोग मिला है। ऐसी पत्रिकायें विरल हैं। यह पत्रिका आम-अवाम के लिए नहीं, विशिष्ट वर्ग के लिए है। इन आलेखों को पढ़ने समझने के लिए गंभीर मानसिकता अपेक्षित है।

डॉ. गंगा प्रसाद बरसैया

सेवा निवृत्त, प्राचार्य

चिंतन-सृजन अंक 3 के संपादकीय के अंतर्गत आपने ‘शब्द’ के सौदागर में प्रश्न किया है कि हमारे लेखक इस जमीन से अपने को जोड़ने में असमर्थ क्यों है? अन्य तमाम कारणों के अलावा मेरे विचार में ‘शिक्षा में मातृभाषा की घोर उपेक्षा और अंग्रेजी के प्रति मोह’ एक प्रबल कारण है। मैंने बेंगलूर में मार्च 2000 में आयोजित हिन्दी साहित्य सम्मेलन के 52 वें अधिवेशन में राष्ट्रभाषा परिषद के अध्यक्षीय भाषण में भी इस का जिक्र किया था कि “हम सब अंग्रेजी के मोह में पड़ कर अपनी भाषाओं की घोर उपेक्षा कर रहे हैं। हम भूल गये हैं कि किसी भी समाज का विकास उस की भाषा के माध्यम से ही संभव है। मौलिकता व सर्जनात्मकता का विकास मातृभाषा में ही संभव होता है। दूसरी भाषा के माध्यम से संभव नहीं है।” यह एक प्रबल कारण है जिस के चलते हमारा लेखक विदेशी मंडियों से लगातार बासी विचारों को आयातित करता रहता है।

डॉ. विजय राघव रेड्डी

पूर्व आचार्य, केन्द्रीय हिंदी संस्थान, आगरा एवं

पूर्व अध्यक्ष, आंध्रप्रदेश हिंदी अकादमी, हैदराबाद

आपने ‘चिंतन-सृजन’ में नुक्ता का प्रयोग बंद कर दिया, इसके लिए साधुवाद। आप निर्भीकतापूर्वक अपनी पत्रिका को दो टूक बातें कहने का मंच बनायें, क्योंकि अधिकांश हिन्दी पत्रिकाएँ मतवादी पक्षाघात से रूग्ण हैं और यही कारण है कि इतिहास, संस्कृति, साहित्य आदि से सम्बद्ध समस्याओं को सही परिप्रेक्ष्य में नहीं प्रस्तुत किया जा रहा है। ‘चिंतन-सृजन’ के तीनों अंकों को देखकर महसूस होता है कि यह पत्रिका इस अभाव को दूर करने में सक्षम होगी। अंक 3 में प्रो. सत्यमित्र दुबे का ‘भक्ति आन्दोलन: समाजशास्त्रीय विवेचन’, प्रो. रमेश चंद्र साह का ‘हिन्दुत्व, सेक्यूलरवाद और राष्ट्रीय भाव बोध’ जैसे लेख काफी महत्वपूर्ण हैं। ऐतिहासिक उपन्यास लिखने वाले श्री शत्रुघ्न प्रसाद के अंक 2 एवं 3 में छपे लेख ‘ऐतिहासिक उपन्यासों में राष्ट्रबोध का यथार्थ’ का भी अपना महत्व है। चुस्त एवं मौजू सम्पादकीय लिखने के लिए साधुवाद। आशा है आपके सुयोग्य संपादन में ‘चिंतन-सृजन’ वादग्रस्त एवं मतान्ध लोगों को सच्चाई दिखानेवाली मशाल की सार्थकता सिद्ध करेगा।

डॉ. श्रीभगवान सिंह

स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

आप द्वारा प्रकाशित एवं संपादित ‘चिन्तन-सृजन’ जनवरी-मार्च अंक प्राप्त हुआ, जिसे आद्यन्त मनोयोग के साथ पढ़ा। आज ऊहा-पोहा, आपा-धापी का जीवन अत्यन्त संघर्षमय तथा शंकालु हो गया है। ऐसी स्थिति में प्रस्तुत पत्रिका में संकलित निबन्ध लोगों की सच्ची राह दिखाने में पूर्णतः समर्थ हैं। इस दृष्टि से लोकेश चन्द्रकृत ‘संस्कृति, निर्मित और व्यापकता’; यशदेव शल्य कृत ‘भारत का सांस्कृतिक संकट’; मिशेल डानिनो कृत ‘भारतीय चिन्तन पर उपनिवेशन का प्रभाव’; रमेश चन्द्र शाह कृत ‘हिन्दुत्व, सेक्यूलरवाद और राष्ट्रीय भाव-बोध’ जैसे निबंध अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इन निबन्धों में चिन्तन-प्रणाली को उजागर किया गया है। इसके साथ ही कुमार विमल, सत्यमित्र दुबे, शत्रुघ्न प्रसाद और आ. न. शमतोव एवं एन. बेगिजोवा के निबन्ध सृजन-प्रणाली से सम्बद्ध हैं। इस प्रकार पत्रिका के शीर्षक की स्पष्टता-अर्थवत्ता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

आज मीडिया हिन्दी की वर्तनियों को मनमाने ढंग से तोड़-मरोड़ रहा है, ऐसी स्थिति में आपकी प्रस्तुत पत्रिका शुद्धता का मानदण्ड है। परिष्कृत भाषा, शुद्ध मुद्रण और महत्त्वपूर्ण सामग्री के कारण प्रस्तुत पत्रिका संग्रहणीय बनी है। इसके लिए आपका गंभीर प्रयास सदा बरकरार रहे- इसकी कामना मैं करता हूँ।

प्रो. धर्मदेव तिवारी ‘शास्त्री’

पूर्व आचार्य एवं हिन्दी विभागाध्यक्ष, गुवाहाटी विश्वविद्यालय, गुवाहाटी

‘चिंतन-सृजन’ निरन्तर महत्वपूर्ण होता जा रहा है। साधुवाद! अंक तीन में प्रो. सत्यमित्र दुबे ने विराट भक्ति आन्दोलन का समाजशास्त्रीय तथा सांस्कृतिक विवेचन कर इस शोध आलेख को प्रस्तुत किया है। यह तो सम्यक् दृष्टि का अवदान है जिससे द्वन्द्वग्रस्त समाज द्वन्द्वमुक्त हो सकता है। इसी सन्दर्भ में कुछ विन्दु उभार रहा हूँ जो अपेक्षित हैं।

1. डॉ. राधाकमल मुखर्जी का कथन सत्य है कि सांस्कृतिक नवजागरण के साथ सामाजिक सुधार का आन्दोलन साथ-साथ चलता रहा है। इससे संस्कृति तथा समाज दोनों की जड़ता नष्ट होती है। संस्कृति के उत्थान के साथ समाज भी आगे बढ़ता है।

2. (क) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार भक्ति आन्दोलन भारत के पूर्ववर्ती आन्दोलन का अगला कदम है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी माना है, पर उन्होंने प्रेरक तत्व के रूप में पराजय को मानकर प्रबल सिद्ध किया है। आ. द्विवेदी ने भारतीय चिन्तन तथा भावधारा को महत्व दिया है। परिस्थिति को गौण माना है।

(ख) यह सच है कि वैदिक तथा उत्तर वैदिक काल के अनेक ऋषि शूद्र थे। रामायण के रचयिता वाल्मीकि शूद्र थे तो व्यास मातृ पक्ष से शूद्र ही थे। परन्तु आचार्य और पुरोहित समुदाय ऐसा स्वीकार नहीं करते। जानकर भी उल्लेख नहीं करते। कारण है कि स्मृतियों के अनुसार शूद्र चौथा वर्ण है जिसे उपनयन एवं शिक्षा का अधिकार नहीं रहा है। अन्तर्विरोध स्पष्ट है। यदि शूद्र ऋषि, दार्शनिक तथा सन्तों का सादर उल्लेख किया जाता तो विशाल शूद्र समुदाय हीनभव से ग्रस्त नहीं होता। ऊपर के तीन वर्ण उसे हीन नहीं समझते। वेदमंत्र सुनने पर दंड का विधान नहीं होता।

(ग) यह भी सत्य है कि अनेक राजवंश शूद्र रहे हैं। एकाघ वैश्य वर्ण के रहे हैं। भील, मीणा, गोंड, खरवार, चरो तथा उराँवों का शासन भी विभिन्न वन प्रान्तरों में रहा है। पर भारतीय पुराण इनका वर्णन नहीं कर पाता। कुछ के संकेत हैं।

एक ऐतिहासिक प्रसंग है कि पेशवा के सेनापति सदाशिव राव भाऊ राजा सूरजमल जाट को अपमानित कर देते हैं। फिर पानीपत के तीसरे युद्ध में उनकी पराजय हो जाती है।

3. ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में वर्णों की उत्पत्ति का प्रतीकात्मक वर्णन है। आपने सही लिखा है। पर सनातन पौराणिक परम्परा इस का सीधा अर्थ करके शूद्रों को पैर से उत्पन्न मानकर हीन सिद्ध कर देती है। स्पष्ट है कि भगवान महावीर, भगवान बुद्ध, संत कबीर, गुरु नानक, स्वामी दयानंद और स्वामी विवेकानन्द प्रतीकात्मक व्याख्या करते हैं। पर समाज तो दैवी उत्पत्ति के जन्मना सिद्धान्त को ही मानता है। सर्वश्रेष्ठता और सर्वहीनता की चेतना जड़ीभूत हो जाती है।

बीसवीं सदी में स्वाधीनता के बाद स्वामी करपात्री जी ने हरिजनों के मंदिर प्रवेश के विरोध में आन्दोलन किया था। दूसरी बात है कि अंत्यज विरोधी सत्याग्रह पूर्णतः विफल हो गया था।

4. यदि कबीर, नानक, स्वामी विवेकानन्द तथा स्वामी रामतीर्थ के अनुसार अद्वैतवाद की समतामूलक व्याख्या सामाजिक स्तर पर मान्य हो जाती तो समाज विषमता के त्रास से मुक्त हो जाता।

इतिहास-प्रसंग है कि 14वीं सदी में उत्तर भारत के बुनकर समाज ने शूद्रत्व से मुक्ति के लिए इस्लाम को कबूल किया था। आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'कबीर' में स्पष्ट किया है।

5. यह सच है कि निर्गुण भक्ति आन्दोलन में अस्सी प्रतिशत शूद्र, वैश्य तथा खत्री ही सम्मिलित हुए थे। उन्होंने भक्ति आन्दोलन को सामाजिक समता के आधार पर आगे बढ़ाया था। इसलिए तुलसीदास ने शूद्र सन्तों की आलोचना की है। एक ओर वे सगुण की प्रतिष्ठा के लिए व्याकुल हैं तो दूसरी ओर जन्मना विषम वर्ण व्यवस्था के लिए। युग की स्थिति से वे परेशान थे।

परन्तु आज की युग चेतना समतामूलक समरसता के लिए अधीर है।

डॉ. शत्रुघ्न प्रसाद, पटना

'चिंतन-सृजन' का जनवरी-मार्च 2004 अंक मिला। आस्था भारती सम्बन्धी विवरणिका भी प्राप्त हुई। इसके उद्देश्यों से परिचित हुआ। सामाजिक संरचना की दिशा में यह पत्रिका निश्चय ही उपयोगी होगी। ज्ञानवर्द्धक होने के साथ-साथ इसके लेख हमें सोचने को बाध्य करते हैं। अपनी महान परंपराओं से परिचित कराने के साथ-साथ वर्तमान सांस्कृतिक संकट के प्रति सावधान भी कराते हैं।

डॉ. जगदीश्वर प्रसाद, डालटनगंज

'चिंतन-सृजन' का जनवरी-मार्च 2004 का अंक प्राप्त हुआ। धन्यवाद। कागज-छपाई साफ-सुथरी तथा उच्च कोटि की है। सरसरी निगाह से पाठ्य-सामग्री देख गया हूँ और अध्ययन करने के बाद प्रतिक्रिया से सूचित करूँगा।

गोपालदास नागर, वाराणसी

'चिंतन-सृजन' का जनवरी-मार्च अंक मैंने पहली बार देखा। लेखों और लेखकों के नाम देखकर मुझे लगा कि हिंदी में यह एक अत्यंत महत्वपूर्ण पत्रिका निकली है। कृपया मेरी ओर से हार्दिक बधाइयाँ और शुभकामनाएँ स्वीकार कीजिए। पढ़कर आपनी राय भेजूँगा।

वेदप्रताप वैदिक, नई दिल्ली

चिंतन-सृजन का ताजा अंक मिला आपने मेरी राय छापी किंतु अधूरी। यह उचित नहीं। पत्र पूरा छापना चाहिए, आधा नहीं। इससे तो न छापते तो अच्छा होता।

यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र', बीकानेर

'चिंतन-सृजन' की जानकारी मिली तो अपने साथ एक मित्र का वार्षिक शुल्क भेजा था। पत्रिका के तीन अंक मिले। 'चिंतन-सृजन' के प्रकाशन के लिए बधाई और अभिनन्दन। इस देश के धर्म, संस्कृति, साहित्य और कला के लिए प्रतिबद्ध पत्रिका का प्रत्येक देशप्रेमी पाठक और लेखक को अभिनन्दन करना चाहिए। आज भारतवर्ष में सबसे अधिक भारत ही उपेक्षित और अपमानित है तथा देशद्रोही शक्तियाँ इसका अंग-भंग करने पर तुली हैं। आपकी पत्रिका आहत देश की आहत संस्कृति और आहत भारतीयता के लिए संजीवनी का काम करेगी, ऐसा मेरा विश्वास तीन अंकों को पढ़ने से उत्पन्न हुआ है।

आपने बहुत ही सुयोग्य लेखकों को चुना है। पाठक इन्हें पसन्द करेंगे। कृपया इसके ग्राहक बनाने का अभियान आपको शुरू करना चाहिए और अपने ग्राहकों, लेखकों तथा पाठकों से कहें कि वे कम-से-कम एक व्यक्ति को इसका ग्राहक बनायें।

प्रेमचंद की एक कहानी 'जिहाद' अपनी टिप्पणी के साथ भेज रहा हूँ। सन् 1929-30 की यह कहानी इस्तामिक आतंकवाद पर लिखी गयी विश्व की पहली

कहानी है और बलिदान की है। उचित समझें तो प्रकाशित करें।

डॉ. कमल किशोर गोयनका, दिल्ली

‘चिंतन-सृजन’ का वर्ष-1 अंक-3 पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। सभी लेखों में से मैं मार्क्सवाद के प्रति लिखे लेखों से विशेष रूप से प्रभावित हुआ। श्री प्रणव कुमार एवं शंकर शरण के लेख काफी प्रभावकारी लगे। श्री प्रणव कुमार ने मार्क्सवाद को एक टूटते दुःस्वप्न की संज्ञा दी है जो कि आज के समय में पूरी तरह से सच है। मार्क्सवाद की नींव state monopoly पर गढ़ी गई है, जिस पर उन्होंने अपने विचारों की इमारत खड़ी की है। उनके अनुसार मुक्त व्यापार, उदारीकरण, पूँजीवाद सब ढकोसला है जिससे किसी का भला एवं उन्नति संभव नहीं, परन्तु एक तथ्य जिसे वे लोग नजरअंदाज कर रहे हैं वह यह है कि स्वयं चीन एवं रूस दोनों को प्रगति एवं समृद्धि के लिए पूँजीवाद का सहारा लेना पड़ा। मार्क्सवाद की एक मुख्य खामी समाज पर अपने विचारों को थोपना है। वे दूसरे विचारों एवं उनके सहअस्तित्व को नहीं स्वीकारते हैं। वे समाजवाद के नाम पर सामाजिक दमन करते हैं। शायद इसी कारण सोवियत रूस का विखंडन हुआ एवं चीन में भी तिब्बत प्रांत में आजादी की आवाजें उठ रही हैं।

विक्रम कुमार धल, नई दिल्ली

भारतीय कम्युनिस्टों का भूल करने का सिलसिला शुरू से ही रहा है और रहेगा।।

दिलु सुबेदी, उमर नीड. री भोई, मेघालय

दिमागी सडॉध से उकरे गए शब्दों की सामग्री से फिर चाहे वह पाठकीय

प्रतिक्रिया के रूप में क्यों न हो, बचें तो अच्छा। ‘चिन्तन-सृजन’ शीर्षक की सार्थकता साबित करती पत्रिका की प्रकाशन-योजना जारी रहे, यही कामना है।

पुस्तक समीक्षा डॉ. सतीश दुबे, इन्दौर

पत्रिका की सामग्री देखी। उससे यह साफ है कि हिन्दू और राष्ट्रवादी प्रकाशक अपने सद्यः प्रकाशित पुस्तकों की संस्कृति के इस दौर में उस ओर के बुद्धिजीवियों और विचारकों को मंच देना ही उसका लक्ष्य है। प्रसिद्ध बर्हि महीम सिंह ने रेड कोर्टों के लिए यह एक अच्छा मंच है। लेकिन अच्छा होता कि दोनों पक्षों को पत्रिका में स्थान दिया जाता। भेज सकते हैं।

प्रकाशक

जैसी पत्रिका की प्रकृति है और जो लोग उससे जुड़े हैं, लगता कि वह एक साधन सम्पन्न पत्रिका होगी जो अपने लेखकों को मानदेय भी देती होगी। यदि सचमुच ऐसा है तो एक लेख, जो वस्तुतः यशपाल पर मेरी पुस्तक का एक अध्याय है, ‘यशपाल: स्त्री-चिन्ता की प्रकृति’ आपको भिजवा सकता हूँ।

मैं विचार की स्वतन्त्रता का पक्षधर हूँ। उस नाते असहमतियों के बावजूद आपकी पत्रिका का स्वागत है और उसमें लिखने का प्रस्ताव भी मैंने किया है।

मधुरेश, बरेली

‘चिन्तन-सृजन’ का वर्ष 1 अंक 2 प्राप्त हुआ, धन्यवाद। यह अंक हर प्रकार से पाठकीय, मननीय एवं संग्रहणीय है। शुद्ध छपाई और आकर्षक आवरण बहुत प्रभावित करते हैं।

डॉ. केवल कृष्ण ‘पाठक’

‘चिंतन-सृजन’ का पहला अंक तो नहीं देख पाया शायद मेरी गैरहाजिर में इधर-उधर हो गया लेकिन दूसरा पढ़ा और अत्यंत प्रसन्नता हुई यह देखकर कि हिन्दी के एक बड़े अभाव की इससे कुछ पूर्ति होती है। साहित्येतर विषयों के नए चिंतन को इसमें जगह मिली है और यह किसी विशेष विचारधारा के आग्रह को लेकर नहीं चली है। ऐसे समय में जब शब्द का उद्देश्य मात्र प्रचार हो गया है, विचार को समर्पित पत्रिका स्वागत योग्य है। हिन्दी प्रदेशों की जनता में आज विचारों की भूख है अतः मुझे उम्मीद है कि यह पत्रिका बहुत जल्दी ही प्रबुद्ध समाज में लोकप्रिय होगी।

मस्तराम कपूर, दिल्ली